आत्मज्ञान और विज्ञान

विनोबा

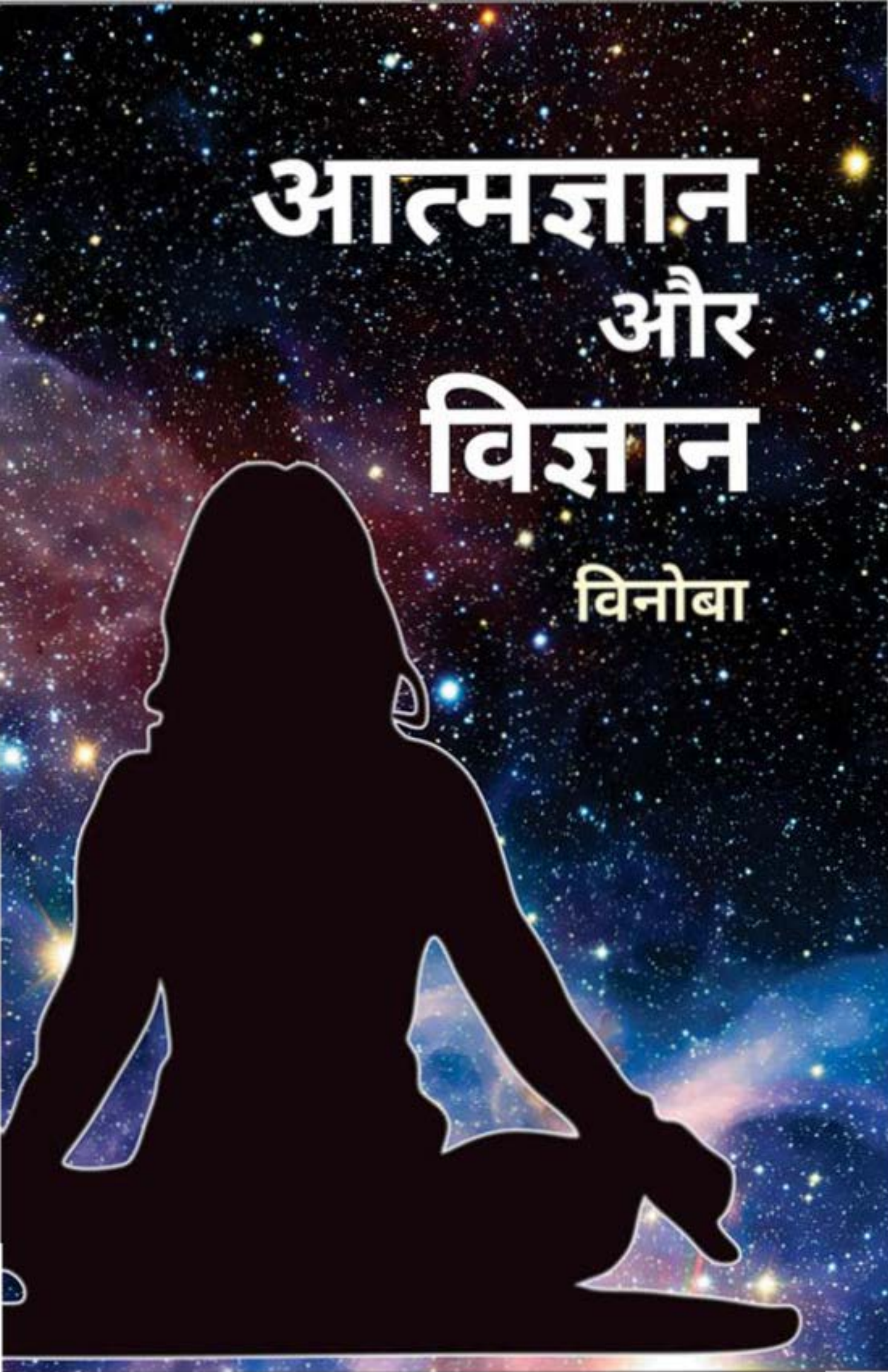

आत्मज्ञान और विज्ञान

(संशोधित संस्करण)

आचार्य विनोबा

प्रकाशक

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी २२१ ००१

फोन : ०५४२-२४४०३८५

Email: sarvodayavns@yahoo.co.in

प्रकाशकीय

६ अगस्त, १९४५ को हिरोशिमा (जापान) में अणुबम का विस्फोट हुआ, तब दुनिया के दार्शनिकों, विचारकों और शासकों का ध्यान जिस ओर आकृष्ट हुआ, उस चिन्तन का निर्णय विनोबाजी सिवनी-जेल (सन् १९४२ से १९४५) में ही कर चुके थे। जेल से बाहर आये, तब देश में राजनैतिक आन्दोलन जारी था। भारत आजाद नहीं हुआ था। २५ जून १९४५ को उन्होंने अपने सार्वजनिक भाषण में विचार व्यक्त किया कि "राजनीति और धर्म के दिन लद गये हैं और अध्यात्म तथा विज्ञान के समन्वय का युग आया है। अध्यात्म और विज्ञान का संयोग होगा, तभी हमारा आगे का काम विश्वानुकूल होगा।'' उन्हींकी तरह श्री जवाहरलालजी नेहरू ने भी पिछले कुछ वर्षों से यह कहकर कि "मैं यद्यपि राजनीति में हूँ, तो भी मैं मानता हूँ कि आज राजनीति समयबाह्य है । राजनीति जायगी, धर्म जायेंगे और बदले में विज्ञान और अध्यात्म आयेंगे'' इस विचार का काफी प्रचार किया है। इससे भारत के साधकों, विचारकों तथा वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ और इस दिशा में सक्रिय होने का विचार सामने आया। परिणामस्वरूप सर्व सेवा संघ और विश्व-संघ (World Union) के संयुक्त तत्त्वावधान में स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी की अध्यक्षता में २८ दिसम्बर १९६२ से १ जनवरी १९६३ तक सदाकत आश्रम, पटना में एक परिसंवाद हुआ। उसमें स्वीकृत निवेदन आस्ट्रेलिया के वैज्ञानिक डॉ० रेनर सी० जानसन ने भारत के कुछ विश्वविद्यालयों तथा धार्मिक संस्थाओं में भेजा। विनोबा के सान्निध्य में, जब कि वे शान्तिनिकेतन के आसपास थे, १४ जनवरी १९६३ को एक परिसंवाद हुआ। फिर विश्व-संघ की कार्यकारिणी ने आध्यात्मिक स्रोतों को एकत्र लाने और गतिशील बनाने का अभियान शुरू किया। सर्व सेवा संघ ने भी प्रबन्ध-समिति की अगस्त १९६३ की सेवाग्राम-बैठक में इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने के लिए एक प्रस्ताव किया और विस्तार से विचार करने के लिए एक समिति का गठन किया। रायपुर में सर्वोदय-सम्मेलन के अवसर पर उस समिति की पहली सभा हुई। उसमें विनोबाजी ने जो कुछ कहा, उसे प्रास्ताविक रूप में प्रस्तुत पुस्तक में दिया गया है।

इस प्रकार आत्मज्ञान और विज्ञान का यह नया संस्करण जिज्ञासु पाठकों के हाथ में कुछ वर्धमान रूप में आ रहा है। इसमें विचार का भी विकास हुआ है और पुस्तक का आकार भी बढ़ा है। गत संस्करण की सामग्री का चयन विनोबाजी के सन् १९६३ के आरम्भ तक के प्रवचनों से किया गया था, अब सन्

१९६५ के अन्त तक के प्रवचनों से सामग्री ली गयी है। विषयों का भी विभिन्न अध्यायों में विभाजन कर दिया गया है। अध्यात्म और विज्ञान-सम्बन्धी विनोबा के विचारों का 'गागर में सागर' एक स्वतन्त्र अध्याय भी जोड़ा गया है और साधना अध्याय में चित्त-शोधन और ध्यानसाधना-सम्बन्धी प्रवचन और प्रश्नोत्तर इस संस्करण में जोड़े गये हैं, जो साधकों के लिए विशेष उपयोगी हैं | पटना-परिसंवाद, निवेदन, प्रबन्ध-समिति, प्रस्ताव और विनोबाजी के सुझावों को परिशिष्ट में दिया है। इन सबके कारण विषय की विविधता, रोचकता और स्पष्टता बढ़ी है।

जिस तरह इस विषय के स्वागत के लिए दुनिया तैयार हो रही है, उसे देखते हुए ऐसा लगता है कि निकट भविष्य आत्मज्ञान और विज्ञान के मेल से ही सुरभित होगा।

अनुक्रम

प्रास्ताविक

अहिंसा कसौटी पर ..., विश्व-सन्दर्भ ..., आश्रमों की भूमिका ..., विश्व-पुरुषों का चिन्तन ..., विश्व-भूमिका तैयार है ...।

१. गागर में सागर

बीजावाप ..., अँखुआ फूटा ..., सार्वभौम विज्ञान ..., आत्मवाद और प्रेतविद्या ..., तीन निष्ठाएँ ..., जगद्गुरुओं की अनुभूति ..., सत्य अनिर्वचनीय ..., विज्ञान की देन ..., शोध की सम्भावनाएँ ..., द्रव्य और चित्त भिन्न नहीं ..., प्रक्रिया-विचार ..., कल्पना सीमित ..., नया चित्त : नया मनुष्य ..., सामाजिक समाधि ..., 'मैं' से मुक्त 'हूँ' ..., अपौरुषेय व्यक्ति ..., मानव-सेवा और भूतदया ..., आत्म-निरीक्षण ..., जीने की कला ..., राजनीति का गलत आधार ..., ग्राम-परिवार से विश्व-परिवार ..., सार-तत्त्व : प्रत्यक्ष जीवन ...।

२. आत्मज्ञान

१. आत्मशब्द-विवेचन ..., शब्द-व्युत्पत्ति ..., जीव, आत्मा और परमात्मा ...., **२. आत्मज्ञान का ध्येय** ..., आज का अधूरा आत्मज्ञान ..., कथनी और करनी में ऐक्य हो ..., दृष्टि में मौलिकता का अभाव ..., साधना की बुनियाद ..., 'ईश्वर-दर्शन' भी सम्भवनीय ..., **३. आत्मज्ञान की व्याख्या** ..., अध्यात्म ..., आत्मचिन्तन ..., **४. वेदान्त और अहिंसा** ..., हम बँधे हुए हैं ..., मैं कौन हूँ ? ..., दोनों का समन्वय हो ..., मैं साक्षी हूँ ..., अहिंसा का रहस्य ..., **५. आत्मज्ञान अभी परिपूर्ण नहीं** ..., अध्यात्म का दोष ..., विज्ञान के दोष अनुभव से सुधरते हैं ..., भूलों का अर्थशास्त्र पर प्रभाव ..., अध्यात्म में भी वही भूल ..., सिद्धि-प्राप्ति भी एक पूँजीवाद ..., साधना के नाम पर स्वार्थ ..., 'मैं' की जगह 'हम' ..., **६. आध्यात्मिक निष्ठा** ..., निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा ..., मृत्यु के बाद भी जीवन की अखण्डता ..., प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता ..., विश्व में व्यवस्था और बुद्धि ..., पूर्णता का अनुभव शक्य ..., **७. प्रश्नोत्तर** ..., ईश्वर ..., मूर्ति-पूजा ..., ईश्वर-प्राप्ति ..., मन्त्र ..., गुरु ...।

३. साधना ... ...

१. साधना-विचार ..., अन्तर्निरीक्षण ..., क्रम-विचार ..., क्रम-विवेक ..., मुक्त-चित्त ..., मृत्यु-साधना ..., निवृत्त-चित्त ..., अज्ञान का ज्ञान ..., **२. चित्त-शोधन** ..., चित्त-स्थैर्य ..., चित्त-शुद्धि ..., दोष-निरसन ..., चित्त-निरोध ..., चित्त-प्रसाद ..., त्रिविध परावलम्बन ..., जब चाहे तब खोलो किवरवा ..., बुनियाद—आत्मनिर्भरता ..., देहभाव ..., **३. सामूहिक साधना** ..., सब कुछ नया बनाओ ..., नाटक ही वास्तविकता में परिणत होगा ..., ब्रह्म-विद्या सर्व-सुलभ हो ..., भक्ति सर्वोदय में रूपान्तरित होगी ..., साम्ययोग : पहले शिखर, अब नींव ..., सर्वश्रेष्ठ भक्त का लक्षण : पूर्ण निर्भयता ..., 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष ..., हित और सुख का विवेक ..., सामाजिक समाधि ..., विकास-परम्परा ..., पुराना मन, नया मन ..., चित्त का समत्व ..., **४. ध्यान-साधना** ..., वेदान्त ने रास्ता दिया ..., साक्षात्कार की परिसमाप्ति नहीं ..., उत्तरोत्तर ज्ञान-अनुभव-वृद्धि ..., ईश्वर के गुण भी अनन्त ..., ईश्वरी-गुण व्यापक ..., गुणानुभूति में उत्तरोत्तर वृद्धि ..., गुण-ध्यान कैसे ? ..., ध्यान आसक्ति न बने ..., व्यसन और आसक्ति ..., उपासना : एक उपाधि ..., उपाधि भी सहायक ...., ध्यान-गुणदर्शन ..., विठोबा की मूर्ति ..., प्रकाश द्वारा गुणचिन्तन ..., सृष्टि गुणात्मक है ..., दुनिया गुणदोषमय है ..., ऋषि का दर्शन ..., गुणचुम्बक-शक्ति = ध्यान-शक्ति ...।

४. विज्ञान ... ...

१. विज्ञान की माँग ..., विज्ञान क्या है ..., मानव और अन्य प्राणियों में अन्तर ...., विज्ञान मानसशास्त्र नहीं जानता ..., आज के मानव की वैज्ञानिक प्रगति ...., हमारी अर्हता ..., विज्ञान पहले से ही मन से ऊपर ..., मन गौण : विज्ञान-आत्मज्ञान की दृष्टि में ..., अरविन्द का अतिमानस-दर्शन ..., मानसिक भूमिका से तो ऊपर उठिये! ..., **२. विज्ञान-युग के तीन कर्तव्य** ..., विज्ञान की उन्नति का यत्न प्राचीनतम ..., विज्ञान की महत्ता ..., आज विज्ञान बिक रहा है ..., विज्ञान से अहिंसा का गठबन्धन हो ..., हिंसा से विज्ञान का खातमा ..., व्यवहार में विज्ञान ..., आत्मज्ञान की बारी है ..., प्रयोग का नया क्षेत्र ..., विकास का परिणाम ..., संघर्ष अनावश्यक ..., **३. विज्ञान का अधिकारी भारत** ..., सदैव मुक्त-चिन्तन का पक्षपाती ..., धर्म-विचार विज्ञान से अविरुद्ध ..., ईश्वर कर्म-सापेक्ष ..., सह-अस्तित्व

का आदर्श ..., विचार लादने का प्रश्न ही नहीं ..., एक होने में ही विज्ञान की उपयोगिता ..., भारत को त्याग का विचार अतिप्रिय ...।

५. समन्वय ... ...

१. दो पहलू ..., आत्मज्ञान से ही विज्ञान को सही दिशा ..., संगम का विज्ञान ..., धरती पर स्वर्ग ..., दोनों की प्रगति एक साथ ..., विज्ञान की निरपेक्ष शक्ति ..., मार्ग-दर्शन का महत्त्व ..., वैज्ञानिक और वैज्ञानिकता ..., विज्ञान का परिणाम ..., **२. सियासत + विज्ञान = सर्वनाश, रूहानियत + विज्ञान = सर्वोदय** ..., आखिर रूहानियत ही रास्ता ..., मैं पार्टीवाली सियासत के खिलाफ ..., लोगों की ताकत बनायें ..., लश्कर सियासत पर हावी न हो ..., आनेवाला जमाना मेरा ..., सर्वनाश बनाम सर्वोदय! ..., दिल और दिमाग नया बने ..., नया इन्सान बनाइये ..., **३. समन्वय का प्रयास** ..., विश्व-नागरिकता की ओर ..., आप दुनिया के केन्द्र में ..., सर्वोदय की बुनियाद ..., हृदय-प्रवेश की प्रक्रिया ..., विचारों में शक्ति ..., मानव-जीवन की संकुचितता के कारण ..., अध्यात्म-विद्या और विज्ञान की एकवाक्यता ..., राजशक्ति सीमित हिंसा को लेकर काम करती है ..., जागतिक युद्ध अहिंसा के निकट है ..., **४. समन्वय-योजना** ..., सर्वोदय-विचार आध्यात्मिक और वैज्ञानिक ..., लाओत्से की योजना : केवल अहिंसात्मक ..., स्टालिन की योजना : केवल सहयोगी ..., सर्वोदय में दोनों का समन्वय ..., हमें विश्व-मानव बनाना है ..., विश्व-नागरिकता : मूल्य-परिवर्तन का अमोघ मन्त्र ..., ज्ञान के साथ हृदय भी विशाल हो ..., ग्रामदान का आनन्द ..., भूदान-ग्रामदान से नये विश्व का निर्माण ..., यह आध्यात्मिक मूल्य-स्थापना का यत्न ..., **५. समन्वय की शक्ति : विश्वास** ..., इन्सानियत पर यकीन करनेवाला जादू ..., दूसरों पर विश्वास : महान् शस्त्र ..., विश्वास पर विश्वास करें ..., विश्वास से असज्जन भी सज्जन बनते हैं ..., विश्वास-शक्ति का महत्त्व ..., वेदान्त और विज्ञान का अर्थ ..., **६. समन्वय का साधन : साहित्य** ..., दुनिया को बनानेवाली ताकतें ..., विज्ञान की शक्ति ..., आत्मज्ञान की सामर्थ्य ..., साहित्य की शक्ति ..., साहित्य : कठोरतम साधना की सिद्धि ..., कवि की व्याख्या ..., वाणी : विज्ञान-आत्मज्ञान के बीच का पुल ..., वाणी का सदुपयोग हो ...।

परिशिष्ट :

१. अध्यात्म के स्रोत गतिशील हों

२. अध्यात्म की वैज्ञानिक खोज हो

३. खोज की दिशा

आध्यात्मिकता की कसौटी ...।

प्रास्ताविक

कोई अठारह-उन्नीस साल पहले की बात है, जब कि हम सिवनी-जेल में थे। काकासाहब* और हम दोनों दो-तीन साल साथ रहे थे। सिवनी-जेल में तो हम एक ही कोठरी में रहते थे और हमारी बहुत चर्चाएँ चलती थीं। वहाँ हमें चिन्तन के लिए अच्छा मौका मिलता था। अध्यात्म और विज्ञान का संयोग होना चाहिए और तभी हमारा आगे का काम विश्वानुकूल होगा, इस प्रकार की चर्चा वहाँ कई दफा होती रही। जेल से भी हम दोनों एक ही दिन छूटे। मुझे प्रसन्नता होती है कि वे भी आज यहाँ मौजूद हैं। जेल से आने के बाद मैंने एक बात की, उसका भी निर्णय जेल के अन्दर ही हुआ था। जब बापू से मिलना हुआ, तो प्रथम दर्शन में ही कुछ बातें हुईं। जैसा कि उनका रिवाज था, थोड़ा स्वास्थ्य आदि का प्रश्न पूछने के बाद उन्होंने तुरन्त कह दिया कि "शायद हमें दुबारा जेल जाना होगा, एक और तपस्या हमें करनी होगी, ऐसा अन्दाज है।'' तो मैंने कहा कि "ठीक है, उसके लिए हमारी मानसिक तैयारी है, लेकिन मैं महसूस कर रहा हूँ कि शायद ऐसा प्रसंग कभी नहीं आयेगा।'' उन्होंने पूछा कि "यह किस पर से कहते हो ?'' तो मैंने जवाब दिया कि "जेल में हम लोग लगभग तीन साल यानी पैंतीस महीने रहे। तीन साल जेल में रहने के बाद मैंने यह देखा कि हम लोग आध्यात्मिक दृष्टि से कमजोर नहीं हुए हैं, इसलिए महसूस होता है कि शायद ऐसा प्रसंग फिर से न आये। अगर हम लोग कमजोर होकर बाहर आये होते, तो ईश्वर और कसौटी करना चाहता। लेकिन हम कमजोर नहीं हुए हैं, तो यह प्रसंग दुबारा शायद नहीं आयेगा''—ऐसा मैंने कहा था। खैर, लेकिन वह ख्याल हमारे चित्त में था ही, जो उन्होंने कहा। जेल में जाने का प्रसंग आ सकता था। उसके लिए हमारा चित्त तैयार था। फिर काम की बातें चलीं, तो हमने उनसे एक इजाजत माँगी। उन दिनों हम तालीमी संघ आदि कई संस्थाओं में सदस्य थे और वह उन्हींके आग्रह से और उन्हींकी योजना से थे। तो मैंने उनसे कहा कि "मैंने सोचा है कि आप अगर इजाजत देते हैं, तो मैं किसी संस्था में नहीं रहूँगा।'' तो उन्होंने पूछा कि "ऐसा क्यों कहते हो ?' तो हमने उत्तर दिया कि "मुझे भास हुआ कि संस्था में रहकर अगर चिन्तन करना है, तो चिन्तन सीमित हो जाता है और शायद अहिंसा की खोज के लिए वह सीमित चिन्तन काम नहीं आयेगा। आज अहिंसा की जितनी खोज हो चुकी है, उसके अमल के लिए तो कोई बाधा नहीं है, लेकिन यदि आगे खोज करनी हो, तो चित्त खुला रहना चाहिए। इसलिए संस्थाओं से मुक्ति चाहते हैं।'' मेरा यह

जवाब सुनकर उन्होंने 'हाँ' कह दिया। और जैसा उनका रिवाज था, मनुष्य को प्रेम से बाँध लेने का, उन्होंने कहा कि “यह संस्थाओं की सेवा तो करेगा, लेकिन संस्थाओं में अधिकार नहीं रखेगा ऐसा इसका अर्थ होता है, तो अच्छा है।'' फिर संस्थाओं से मुक्ति पाना कठिन नहीं हुआ। जब उनकी इजाजत पहले से मिल गयी, वह इजाजत पाने के लिए ज्यादा बातचीत करने की जरूरत नहीं पड़ी। मेरे एक वाक्य से एकदम वे सहमत हो गये कि अहिंसा की खोज के लिए संस्था-मुक्त मन चाहिए। मैं समझता हूँ कि इस विचार में एक विज्ञान भी है और कुछ अध्यात्म भी है। उसके बाद मेरे जो सार्वजनिक भाषण हुए थे, उनमें उस विचार का उच्चारण मैंने सार्वजनिक तौर पर किया कि इन दिनों मैं सोचता हूँ, तो मुझे लगता है कि विज्ञान के साथ अहिंसा और अहिंसा के साथ विज्ञान को जोड़ना होगा। इसके बिना दुनिया का भला नहीं होगा। दुनिया ही रहेगी नहीं। अब उसी विचार से प्रेरित होकर दो साल से सोचा जा रहा है और इस मण्डल में उसका उच्चारण होता है। लेकिन उसका प्रथम उच्चारण मैंने सन् १९४५ में किया था। उसके बाद काम करने के एक-दो मौके मिले।

---

* श्री काका कालेलकर।

अहिंसा कसौटी पर

बापू की मृत्यु के बाद हमें एकदम से एक भार मालूम हुआ; लेकिन उस भार का बोझ महसूस नहीं हुआ; क्योंकि 'संस्था-मुक्ति' और ‘विज्ञान और अध्यात्म एक होना चाहिए', यह विचार चित्त पर आरूढ़ था, तो हमें बोझ महसूस नहीं हुआ, यद्यपि बापू के जाने से भार महसूस हुआ। जब तक बापू थे, तब तक मैं देहात के भंगी-काम में लगा रहा। उनके जाने के बाद मुझे बाहर जाना पड़ा और मेरा देश में घूमना हुआ। हिन्दू-मुसलमानों के दंगे हुए थे; शरणार्थियों का सवाल खड़ा हुआ। उस वक्त मानवता की गिरावट, लड़ाइयों में जितनी होती है, उससे कम नहीं हुई। हमने जो आजादी हासिल की, वह अहिंसा के तरीके से की—ऐसा कहा जाता है और वह ठीक ही कहा जाता है। लेकिन जहाँ बड़ी लड़ाई होती है और हिंसा होती है, वहाँ जैसी बुराई की बात सुनते हैं, पढ़ते हैं, उसी किस्म की बुराई यहाँ हुई और वह भी छोटे पैमाने पर नहीं, बड़े पैमाने पर हुई | तब हमें सोचने का बहुत मौका मिला कि “यह क्या हुआ,

जब कि हमने अहिंसा का नाम लेकर काम किया और हमें आजादी हासिल हुई, वह भी अहिंसा की मर्यादा में ही हासिल हुई, हम उत्तम-से-उत्तम कामों में अहिंसा की मर्यादा रखते थे, वह अहिंसा की मर्यादा कहाँ टूट गयी ? वह अहिंसा का विचार कहाँ गया ? इतने नीचे के स्तर तक चित्त कैसे गिरा ?" यह सोचने पर मालूम हुआ कि हमने जो अहिंसा का प्रयोग किया था, वह बहुत कच्चा था | यह तो बहुत सारे लोग महसूस करते ही हैं । लेकिन इसके साथ मुझे यह लगा कि वह अहिंसा का प्रयोग शायद उतना वैज्ञानिक नहीं. था। अगर वह वैज्ञानिक होता, तो जो गलतियाँ सन् १९४२ के आन्दोलन में हुईं, वे न होतीं और हममें विश्व का दर्शन अच्छा रहता। उस विश्व-दर्शन के अभाव में वे गलतियाँ हुईं और भारत को महाभारत होना था, जिसके बदले में भारत के दो टुकड़े हो गये, ऐसा हमारे चित्त पर असर हुआ।

विश्व-सन्दर्भ

हम सत्याग्रह के बारे में भी सतत सोचते रहे और हमें कई बातें सत्याग्रह-विचार की दृष्टि से सूझीं और उनका जगह-जगह विभिन्न मौकों पर उच्चारण भी हुआ। फिर आप जानते हैं कि भूदान-आन्दोलन निकला, तो उसको हमने विश्व-सन्दर्भ में देखा। जिस दिन हमें प्रथम भूदान मिला, उस दिन हमने हिसाब तो भारत का किया कि इतने बड़े पैमाने पर काम होगा तब काम सफल होगा, लेकिन हमारे चिन्तन का सन्दर्भ विश्व का सन्दर्भ था। यह एक ऐसी चीज हाथ में आयी है, जिसको अगर हम ठीक ढंग से पकड़ते हैं और ठीक ढंग से उसको चलाते हैं, तो इसमें से विश्व-शान्ति और विश्व-कल्याण का रास्ता निकलेगा, ऐसा हमें लगा। इसलिए हमने उस कार्यक्रम को भगवत्प्रेरणा समझकर उठा लिया | पाँच-छह साल के अनुभव आये। उसके बाद हमें लगा कि काम तो अच्छा है और लोगों का सहयोग भी है । लोगों के चित्त के अन्दर जो अच्छाई है, वह इससे बाहर आती है। अच्छाई को बाहर आने का मौका मिलता है, यह ठीक है; लेकिन इसको और किसी चीज की जरूरत है कि जिससे इसको वेग मिले, इसमें गति आये। यों सोचकर हमने पाँच-छह आश्रमों की स्थापना की।

आश्रमों की भूमिका

अभी एक बहन ने हमसे एक सवाल पूछा कि 'आपके विचार संस्था के अनुकूल नहीं थे, तो फिर ये पाँच-छह संस्थाएँ आपने कैसे बनायीं ?' तो मैं उसका उत्तर देता हूँ कि दुनिया की भाषा में जो संस्था

होती है, वैसी ये संस्थाएँ नहीं हैं, लेकिन यह तो व्यवस्था बनायी है, शिक्षण-योजना बनायी है, जहाँ कुछ शिक्षण होगा। हमारी सब संस्थाओं के मूल में यह विचार रहा कि विज्ञान और आत्मज्ञान के समन्वय का शिक्षण चित्त को मिले। और ये संस्थाएँ ऐसी स्थिति में हैं कि उसका समाज पर या चित्त पर कोई भार नहीं है। नौ साल पहले 'समन्वय-आश्रम' की स्थापना हुई और काफी अनुभव आये। किसीने पूछा कि आप आश्रम की व्यवस्था के लिए क्या सोचते हैं ? वहाँ के काम को देखने के लिए एक समिति बनायी है। मैंने कहा कि मुझे उसकी चिन्ता नहीं है, क्योंकि मुझे तो वह दान मिला है और मैं आशा करता हूँ कि उस आश्रम की स्थापना का परिणाम यह आयेगा कि दाता का चित्त भी विकसित होगा। उनका शांकर मठ आश्रम के सामने है तो उन्हीं महन्तजी को मैं जमीन वापस दे दूँगा और उनसे कहूँगा कि आप ही आश्रम चलाइये। तो इस बात का मुझ पर भार नहीं है। जिस अर्थ में संस्था का अर्थ करते हैं, उस अर्थ में वह नहीं है। समन्वय आश्रम जब बना, उस समय काका शायद जापान में थे । उनको उस कल्पना का और समन्वय-विचार का बहुत आकर्षण हुआ। आखिर में हमारी जो कल्पना हुई, उस आश्रम को हमने 'मैत्री-आश्रम' नाम दे दिया। एक आश्रम को 'ब्रह्म-विद्या-मन्दिर' नाम दिया, एक को 'विश्वनीडम्', एक को 'विसर्जन-आश्रम' और एक को 'प्रस्थान-आश्रम' नाम दिया। ये भिन्न-भिन्न नामकरण विचार के भिन्न पहलू हैं। विसर्जन भी इसका एक पहलू है। "हम पुराने कन्वेन्शन को, कल्पनाओं को चित्त पर आरूढ़ करना नहीं चाहते हैं। उनका हम विसर्जन चाहते हैं और नयी कल्पना का विशेष सर्जन हो, जो मुक्त-चित्त में से ही पैदा होता है'' ऐसा हमने वहाँ समझाया था। प्रस्थान-आश्रम की संस्थापना के समय हमने कहा था कि "हम यहाँ से खोज के लिए निकले हैं। खोज हो, इसलिए हम यहाँ से प्रस्थान कर रहे हैं।'' वह आश्रम पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की सीमा पर है और कश्मीर के नजदीक है। विश्व-चित्त एक बने, इस कल्पना पर हमने एक आश्रम को विश्वनीडम् नाम दिया और आशा रखी कि कुल विश्व एक घोंसला बने। नीडम् का अर्थ घोंसला होता है। अन्त में मैंने मैत्री-आश्रम की स्थापना की। इस वक्त मेरा आखिरी शब्द मैत्री है। मैं इसको ईश्वर की एक घटना मानता हूँ। डेढ़-पौने दो साल हुए, मैत्री-आश्रम की स्थापना हुए। ५ मार्च, १९६१ को स्थापना हुई। हम विश्व के साथ मैत्री का सम्पर्क करेंगे, ऐसी कल्पना के साथ उसकी स्थापना हुई। उधर चीन है और इधर हम हैं, तो कभी भी संघर्ष का मौका है। वैसे यह पहले बाहर प्रकट नहीं हुआ था, परन्तु हमें जो कभी विचार नहीं

आ सकता था, वह विचार आया और पैदल यात्रा करनेवाला मनुष्य हवाई जहाज की, एअरपोर्ट की अपेक्षा नहीं करता है, लेकिन जहाँ मैत्री-आश्रम की स्थापना हुई है, वहाँ मिलिटरी का कैम्प है, एअरपोर्ट भी है, जहाँ से हम दुनिया के साथ सम्बन्ध रख सकते हैं। हमारा दुनिया के लिए 'मैत्री' स्थान हो सकता है। ऐसा सोचकर हमारे साथ जो लड़की आठ साल से लगातार घूम रही थी, उसको हमने वहाँ रहने के लिए कहा। उसको हमारा विरह बहुत ही खला कि बाबा से अलग रहना पड़ेगा। लेकिन उसने वह माना । उसके कुछ दिनों बाद, करीब एक साल बाद मैत्री-यात्रा शुरू हुई। भारत और चीन को जोड़ने के लिए और उस निमित्त से विश्व को जोड़ने के लिए दिल्ली से पीकिंग के लिए वह यात्रा निकली। असम पहुँची और वहाँ से आगे जाने का उनको मौका नहीं मिला। तो सब लोगों को लगा कि हम जरा चिन्तन के लिए बैठ जायेंगे और चीन से इजाजत माँगने की कोशिश करेंगे। उस यात्रा में दुनिया के पाँच देशों के नागरिक हैं। बीच में तीन-चार महीना वे आश्रम में ठहरेंगे। उनको ठहराने के लिए वहाँ कोई खास मकान नहीं था। जीर्ण-शीर्ण झोपड़ी थी। उसको वे खुद दुरुस्त कर रहे हैं। असम में पानी की कमी नहीं है, लेकिन अच्छा पानी नहीं है। इसलिए उन्होंने फिल्टर की योजना बनायी तो खोदना भी शुरू किया और उसको मैत्री-यात्रा का एक प्रोजेक्ट माना। वे एकत्र बैठते हैं। तरकारी-भाजी काटना, रसोई बनाना, लकड़ी चीरना, बर्तन माँजना आदि काम करते हैं। दुनिया के योगी वहाँ एकत्र काम कर रहे हैं | शंकररावजी ने मुझे लिखा था कि 'एक अद्भुत ईश्वरीय योग लगता है कि मैत्री-यात्रा निकली और उसको मैत्री-आश्रम का अन्तिम सहारा मिला। मैत्री-यात्रा के स्वागत के लिए पहले से यह योजना हुई ऐसा लगता है।'

विश्व-पुरुषों का चिन्तन

उसके साथ-साथ दूसरी भी ताकतें इसी दृष्टि से काम करती थीं, वे भी प्रकट हुईं। श्री अरविन्द के आश्रम में रहनेवाले भाई मि० स्मिथ यहाँ उपस्थित हैं। सब जानते हैं कि श्री अरविन्द में पूर्व और पश्चिम दोनों जुड़े हुए हैं। इतना पूर्व-पश्चिम-संयोग बिरलों में ही होता है। ऐसा मौका बहुत थोड़े लोगों को ही मिलता है। श्री अरविन्द में योग की भूमिका और वैज्ञानिक दृष्टि दोनों थीं। फिर और एक संयोग की बात। गये साल २५ दिसम्बर के दिन पण्डित नेहरू से हमारी मुलाकात हुई। डेढ़-पौने दो घण्टे हमारी एकान्त में; तात्कालिक स्थिति के विषय में दिल खोलकर चर्चा हुई। बहुतों की माँग थी कि मुझे हवाई जहाज से फौरन् दिल्ली जाना चाहिए। मैंने पण्डितजी को पत्र लिखा था कि आज की परिस्थिति को मैं

इस प्रकार समझता हूँ। अगर उस विषय में कोई मतभेद दीखे, तो हमने अपनी मानसिक तैयारी दिल्ली जाने की की थी। हम पद-यात्रा तोड़कर हवाई जहाज से जाते, ऐसा गाम्भीर्य चीन-भारत के संघर्ष के परिणामस्वरूप प्रकट हुआ था। पण्डितजी का उत्तर मुझे मिला कि आपने जितना सारा लिखा है, वह मुझे सम्मत है। और भी बातें उन्होंने लिखी थीं। तो मैंने जरुरत नहीं समझी कि मैं दिल्ली जाऊँ। वे शान्तिनिकेतन के कानवोकेशन के लिए आये थे। वे वर्षों से इसके प्रमुख हैं। तो वहाँ पर उन्होंने शान्ति का ही विचार प्रकट किया। दु:ख की बात है कि इस वक्त दुनिया में एक तनाव है। वह हमेशा रहने वाला नहीं है। उसके लिए तैयारी करनी पड़ेगी। लेकिन हर हालत में जो सन्देश गांधीजी और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दिया था, उसको हम कभी नहीं भूल सकते। मेरा अपना ख्याल है कि आधुनिक भारत बनाने में कई लोगों ने योग दिया। उन सबके बिना आधुनिक भारत न बनता। लेकिन उन सबमें दो नाम ऐसे हैं, जिनमें बाकी के सब नामों का समावेश हो सकता है। एक गांधी और दूसरा टैगोर। टैगोर ने जो काव्य लिखे हैं, उनमें लेशमात्र संकोच नहीं दीखता है। हमें अभी बंगाल-यात्रा में उनके गीतों का अध्ययन करने का मौका मिला। और जिस विषय की हमारी चर्चा हुईं, उस विषय के आवाहन के लिए काव्य जनमा हो, ऐसा लगा। तो पण्डितजी से हमारी चर्चाएँ हुईं। मैं मानता हूँ कि शान्ति की शक्तियाँ ही दुनिया के लिए कल्याणकारी हैं | हमें किसी भी हालत में यही नहीं होना चाहिए कि भारत में द्वेष फैले । यह मैं अपनी ओर से कह रहा था, और बातों का मैं जिक्र नहीं करता हूँ । उनका मन भी विज्ञान और अध्यात्म की एकता में विश्वास रखता है, यह हम समझें । इस विचार का जितना मैंने प्रचार किया, उससे ज्यादा उन्होंने किया और उसको उन्होंने मेरा नाम लेकर भी जगह-जगह कहा। अभी उन्होंने एक जगह पर कहा कि यद्यपि मैं पॉलिटिक्स में पड़ा हूँ, तो भी मैं मानता हूँ कि पॉलिटिक्स आउट-डेटेड है। पॉलिटिक्स जायगा, रिलिजन जायगा, बदले में विज्ञान और अध्यात्म आयेगा।

विश्व-भूमिका तैयार है

इस प्रकार की सारी भूमिका हमने इसलिए रखी कि इस विषय के स्वागत के लिए भारत के साथ दुनिया तैयार हो रही है। इसलिए अभी जो रूस और अमेरिका के बीच संधि हुई है, वह बहुत ही शुभ आरम्भ है | उसमें विश्व-शान्ति के बीज पड़े हैं। हमें खुशी होती है कि सन् १९६५ का साल इण्टरनेशनल को-ऑपरेशन का माना गया है। अब सन् १९६५ में क्या बाकी रहा है ? इसका मतलब

यह है कि उन लोगों ने शायद आशा की हो कि सन् १९६५ तक बहुत सारे मानसिक झगड़े शान्त हो जायेंगे। ऐसी अपेक्षा रखकर बीच का समय छोड़ दिया और दुनिया का संकल्प हुआ कि सन् १९६५ का साल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वर्ष माना जाय। यह अद्भुत वस्तु है। ऐसा कभी सुना नहीं था, जब कि दुनिया के विचारक तय करते हैं कि फलाने साल दुनिया में यह होगा; जब कि जगह-जगह दंगे चलते हैं; लड़ाइयाँ होती हैं, फिर भी सन् १९६५ में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग होगा। चाहे तब तक सारे राष्ट्रों का मन तैयार न भी हो, लेकिन माना जाता है कि इस वक्त शुभारम्भ करना चाहिए। कहने में खुशी होती है कि इस वक्त हमारे राष्ट्रपति राधाकृष्णन् ने जाहिर किया कि कुल दुनिया में शान्ति होनी चाहिए और होगी । इसलिए हर राष्ट्र को अपनी आजादी का थोड़ा हिस्सा समर्पण करना होगा। यह एक बहुत बड़ी बात है। राष्ट्र का एक जिम्मेदार नेता इस प्रकार बोल रहा है कि हरएक को अपनी आजादी का हिस्सा समर्पण करना होगा। अभी एक मौका आया है। ऐसे मौके पर हम आशा करते हैं कि हमारे सबके चित्त में जो भाव हैं, वह भाव सुफलित हों । * [रायपुर, म० प्र०; २६-१२-'६३]

---

* संख्या का सन्दर्भ परिशिष्ट ४ (अन्त में) में देखें।

१. गागर में सागर

बीजावाप

मेरे पिताजी वैज्ञानिक थे और माता आध्यात्मिक वृत्ति की थी। मैं अपने शिक्षा-काल में विज्ञान का अध्ययन सबसे अधिक पसन्द करता था। वह मेरे लिए प्रिय विषय था, लेकिन आध्यात्मिक साहित्य के प्रति मेरा विशेष आकर्षण और झुकाव था। इस प्रकार मेरे मन में अध्यात्म और विज्ञान दोनों मिल गये और मिलकर एक हो गये। मेरी दृष्टि में दोनों समान हैं और दोनों का एक ही अर्थ है। एक का विषय विशेष रूप से सृष्टि का बाह्य पहलू है, तो दूसरे का विषय आन्तरिक। ये दोनों मिलकर हमारे अन्दर समग्र विश्व प्रस्तुत करते हैं।

जब मैं सन् १९४२ में जेल के अन्दर था, तब भारत की स्वतंत्रता के लिए किये गये आन्दोलनों का गहराई से चिन्तन करता था—हम किस-किस प्रकार के सामाजिक सुधार करते गये और अन्त में इस नतीजे पर पहुँचे कि अंग्रेजी हुकूमत हटा देनी चाहिए। गांधीजी स्वतंत्रता-आन्दोलन में आये और उन्होंने कहा कि उसके लिए हमें आध्यात्मिक साधन काम में लेने चाहिए। इस सम्बन्ध में हमने गांधीजी के साथ बहुत चर्चा की कि आध्यात्मिक साधनों का उपयोग कैसे हो।

अँखुआ फूटा

इस चिन्तन के परिणामस्वरूप मैंने अनुभव किया कि विज्ञान और आत्मज्ञान को एक हो जाना चाहिए। केवल भारत की ही नहीं, सारे विश्व की मुक्ति का यही एकमात्र मार्ग है। लेकिन मन की मुक्ति के बिना राष्ट्र की मुक्ति का कोई अर्थ नहीं है। पहले मन को बन्धन-मुक्त करना चाहिए और यह काम है आत्मज्ञान का। बाइबिल में हम पढ़ते हैं कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अन्दर है और इसे धरती पर लाना है। मैं स्वर्ग के राज्य के सम्बन्ध में सोचता रहा और मुझे लगा कि विज्ञान और आत्मज्ञान का मेल होता है, तो धरती पर स्वर्ग लाया जा सकता है। अन्यथा विज्ञान हिंसा के साथ जुड़ा रहा, तो दोनों मिलकर विश्व का संहार कर देंगे। जेल में रहते हुए इस निर्णय पर पहुँचा और जेल से बाहर निकला, तो यही बोलने लगा।

मैं कहता हूँ कि हिंसा के दिन अब समाप्त हो गये हैं | विज्ञान आ रहा है और उसकी प्रगति कोई रोक नहीं सकता है | बल्कि रोकने की आवश्यकता भी नहीं है। लेकिन विज्ञान को सही प्रगति करनी है, तो उसे ठीक मार्गदर्शन मिलना चाहिए और वह मार्गदर्शन आत्मज्ञान ही दे सकता है।

सार्वभौम विज्ञान

विज्ञान के दायरे में एक प्रकार से सारी दुनिया आ जाती है । विज्ञान शब्द का प्रचलित संकुचित अर्थ न लें, उसे विशाल अर्थ में लें, तो आत्मा भी उसके ही अन्तर्गत आता है । इन दिनों विज्ञान का अर्थ सृष्टि के बाहरी गुण-धर्मों से ही माना जाता है, लेकिन आन्तरिक वस्तुएँ भी उसके क्षेत्र में आ सकती हैं । विज्ञान नीति-निरपेक्ष है; न वह नैतिक है, न अनैतिक ही। इसीलिए उसको मूल्यों की आवश्यकता है । इस स्थिति में उसे गलत मार्गदर्शन मिलता है, तो वह नरक का मार्ग बन जाता है और सही मार्गदर्शन मिलता है, तो स्वर्ग में ले जा सकता है। सही मार्गदर्शन आत्मज्ञान से ही मिल सकता है । यह सारा विचार मेरे मन में चलता रहा।

आत्मवाद और प्रेतविद्या

बचपन से ही इससे सम्बन्ध रखनेवाला जो भी साहित्य मिलता, मैं पढ़ लेता था। उन दिनों एक पत्रिका निकलती थी—'रिव्यू ऑव रिव्यूज।' उसके सम्पादक को आत्मवाद (स्पिरिच्युआलिज्म) में रुचि थी। वह आज की आत्मविद्या (स्पिरिच्युआलिटी) नहीं था, आत्मवाद (स्पिरिच्युआलिज्म) था। उसका सम्बन्ध मृत्यु के बाद के जीवन से अधिक था, इस जीवन से नहीं। उस पत्रिका में महान् वैज्ञानिक सर आलिवर लाज के वे पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुए थे, जो उन्होंने मृत आत्माओं के साथ किया था। चूँकि वे सब एक वैज्ञानिक के द्वारा प्रस्तुत किये गये थे, इसलिए उन्हें भ्रम या निर्मूल कहकर टाल नहीं सकते थे, उनका कुछ महत्त्व अवश्य था; लेकिन वह आध्यात्मिक विचार नहीं था, इसलिए मुझे उसका आकर्षण नहीं रहा। मुझे लगा कि जिस प्रकार विज्ञान बाह्य विश्व की ही खोज में लगा है, उसी प्रकार वह आत्मवाद दूसरे ही विश्व की खोज करनेवाला है। दोनों में किसीका सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से नहीं था और इसीलिए उनमें मेरी रुचि नहीं रही।

कुछ समय के बाद मैंने देखा कि यह आत्मवाद (स्पिरिच्युआलिज्म) प्रेतविद्या (स्पिरिटिज्म) में बदल गया। अंग्रेजी में अब यह नया शब्द स्पिरिच्युआलिटी चला है। लेकिन यह शब्द भी अक्सर चैतसिक (साइकिक) प्रयोगों और शोधों से सम्बद्ध रहता है और इसमें कुछ गूढ़ता और रहस्यात्मकता रहती है।

तीन निष्ठाएँ

मुझसे एक बार अध्यात्म की व्याख्या करने को कहा गया और मैंने अध्यात्म की तीन अनिवार्य निष्ठाएँ बतायी थीं। उनमें से पहली निष्ठा यह है कि हममें निरपेक्ष नैतिक मूल्यों पर आस्था होनी चाहिए। कभी सच तो कभी झूठ—इस प्रकार की अवसरवादी मनोवृत्ति और दाम्भिक विचार नहीं चलेगा। मानव-जीवन के प्रति अध्यात्म का दृष्टिकोण ऐसा नहीं हो सकता। जीवन को कुछ बुनियादी सिद्धान्तों और मूल्यों पर आधारित होना चाहिए, जो अपरिवर्तनीय हों, निरपेक्ष हों। दूसरी निष्ठा यह है कि जीवमात्र की एकता और पवित्रता में हमारा विश्वास होना चाहिए। जीवन की एकता और पवित्रता पर विश्वास होना बड़ी और कठिन बात है, लेकिन वह आवश्यक है। तीसरी बात है, मृत्यु के बाद भी जीवन की अखण्डता का स्वीकार। आत्मज्ञान में ये तीनों बातें अनिवार्य हैं, इनके अलावा और भी कई बातें जोड़ी जा सकती हैं, परन्तु इनमें से एक भी घटायी नहीं जा सकती।

जगद्गुरुओं की अनुभूति

आज सभी धर्म विकृत हो गये हैं। वे लोगों को जोड़ने के बजाय तोड़ने लगे हैं । लेकिन मेरा विश्वास है कि आध्यात्मिक अनुभूति और उसका नैतिकता के रूप में प्रयोग विश्व के सभी धर्मों का आधार रहा है। नैतिकता का अर्थ ही नियोजित ब्रह्म-विद्या (मिस्टिसिज्म अप्लाइड) है। ब्रह्म-विद्या का आधार न हो, ते फिर नैतिकता की कोई बुनियाद ही न रहे । जब भी हम गीता और उपनिषद् को, बुद्ध के, ईसा के, सेंट पाल के या मुहम्मद पैगम्बर के वचनों को पढ़ते हैं, तो ऐसा लगता है कि आज तक लोगों ने उनको गलत समझा है। क्योंकि ऐसा दीखता है कि उन लोगों ने शब्दों के माध्यम से जो कुछ व्यक्त किया है, उससे भी कुछ अधिक गहरी अनुभूति उन्हें हुई है और शब्दों में वह ठीक-ठीक प्रकट नहीं की जा सकी है। बात यह नहीं कि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने की उनमें क्षमता नहीं थी, बल्कि

वे अनुभूतियाँ ही ऐसी थीं कि जो शब्दों में व्यक्त ही नहीं हो सकती थीं। हालाँकि ये अनुभूतियाँ एक ही वास्तविकता की ओर इंगित करती हैं, फिर भी उनमें विविधता कम नहीं है।

मुझे लगता है कि इन जगद्गुरुओं को ब्रह्म-विद्या में बहुत गहराई तक उतरना पड़ा होगा और मनोराज्य की देहरी पार करके जाना पड़ा होगा। तब उन्हें जो दर्शन हुआ, उसे अपने चित्त पर अंकित करके वे जनता के बीच लौट आये और उस दर्शन को कार्यरूप में परिणत करने में यत्नशील रहे। वे कहते हैं कि इस प्रक्रिया में वे लोगों पर प्रभाव डालते थे। और साथ ही लोगों से प्रभावित भी होते थे। यह ऐसा कथन है, जो वैज्ञानिक खोज के लिए अस्पष्ट है। इसका तो अनुभव ही किया जा सकता है।

सत्य अनिर्वचनीय

ईसा ने कहा : “इब्राहीम के पहले से मैं हूँ।” यह सुनते ही लोगों ने उस पर पत्थर बरसाना शुरू कर दिया। ईसा के वेदान्त का उत्तर यह मिला। ईसा ने यह नहीं कहा कि “इब्राहीम के पहले मैं था,” बल्कि यह कहा कि “मैं हूँ।'' यह जो ''मैं हूँ" है, यह कोई शाश्वत तत्त्व होना चाहिए, जो कि इब्राहीम के पहले भी था; भविष्य में भी रहेगा और अब वर्तमान में भी है। तो उस तत्त्व के कारण 'मैं' का लोप हो जाता है। यद्यपि वाक्य तो ‘मैं हूँ’ है, फिर भी सही वाक्य 'हूँ' ही है। लेकिन लोगों ने गलत समझा। आज संसार काफी प्रगति कर चुका है, फिर भी शब्द पहले की ही तरह शक्ति-हीन हैं।

विज्ञान की देन

अब विज्ञान की प्रगति हुई है, तो आध्यात्मिक अनुभूतियों को शायद पहले से अधिक स्पष्टतया व्यक्त किया जा सके। आशा है कि विज्ञान जैसे-जैसे प्रगति करता जायगा, वह हमें स्पष्ट अभिव्यक्ति की अधिकाधिक शक्ति प्रदान करेगा।

विज्ञान की विशेषता है उसकी नम्रता। वैज्ञानिक लोग हमेशा बहुत विनम्र होते हैं और कबूल करते हैं कि अभी अज्ञात तत्त्व बहुत हैं। मुझे कई बार लगता है कि यह नम्रता इन तथाकथित तत्त्वज्ञानियों में नहीं है। वैज्ञानिकों की यह नम्रता आत्मज्ञान का भी एक अनिवार्य लक्षण होना चाहिए।

शोध की सम्भावनाएँ

विज्ञान और आत्मज्ञान के बीच समान तत्त्व यही है कि दोनों सत्य की खोज में लगे हैं। सत्य पूर्ण है, इसमें शंका नहीं। लेकिन उसके दो पहलू हैं; एक उसका स्थूल रूप है और दूसरा उसका सूक्ष्म तत्त्व है। विज्ञान आज स्थूल स्वरूप की खोज में लगा है, तो यह करते-करते क्रमश: उस सूक्ष्म तत्त्व की ओर भी बढ़ेगा और उसका भी अनुसंधान करने लगेगा।

जेम्स जीन्स की एक सुन्दर पुस्तक है—'दी मिस्टीरियस युनिवर्स।' उसमें उसने बताया है कि ईश्वर एक पक्का गणितशास्त्री है। हम हिसाब लगाकर देखते हैं कि अमुक ग्रह की अमुक गति है और वह अमुक समय पर अमुक स्थान में रहेगा; और फिर देखते हैं तो वह वहीं मिलता है। तो इस सारी सृष्टि में एक प्रकार का गणित काम कर रहा है, इसलिए ईश्वर महान् गणितशास्त्री है।

द्रव्य और चित्त भिन्न नहीं

आज विज्ञान ने यद्यपि सृष्टि के बाहरी बाजू से काम प्रारम्भ किया है, फिर भी अन्दर की ओर भी वह धीरे-धीरे जाने का प्रयत्न करेगा। तब उसे अनुभूति और प्रयोग की कुछ नयी पद्धतियाँ भी खोजनी पड़ेंगी। इन्द्रियों पर आधारित प्रचलित पद्धतियों और ऐन्द्रियिक अनुभूतियों से तब काम नहीं चलेगा। यह सही है कि हम इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, स्पर्श करते हैं, यह सब उस तत्त्व के बिना नहीं होता है; फिर भी यही वह तत्त्व नहीं है। मैं कहूँगा कि वह तत्त्व द्रव्यनिरपेक्ष (इम्मेटीरियल) नहीं है, परन्तु द्रव्य से भिन्न जरूर है। इस अर्थ में द्रव्य (मेटीरियल) भी तात्त्विक (सब्स्टेंशियल) हो जाता है। इस तरह द्रव्य (मैटर) और चित्त (माइण्ड) दोनों दो नहीं रह जाते। चित्त पर द्रव्य का प्रभाव पड़ता है या द्रव्य पर चित्त का प्रभाव पड़ता है, इनमें कौन प्रमुख है और कौन गौण है आदि साड़ी चर्चाएँ बिलकुल निम्नस्तरीय हो जाती हैं। कोई एक तत्त्व है, जो चित्त और द्रव्य दोनों से परे है, और उस ऊँचाई से देखने पर चित्त, द्रव्य आदि सभी लगभग एक ही श्रेणी में दीखने लगते हैं।

प्रक्रिया-विचार

…पूछते हैं कि साक्षात्कार (रीयलाइजेशन) की कोई प्रक्रिया (प्रोसेस) है ? इसका उत्तर होगा: है भी, नहीं भी। प्रक्रिया से हमारा आशय यह हो कि उसके द्वारा सीधे हम साक्षात्कार तक पहुँच जायँ,

तो वैसी कोई प्रक्रिया नहीं है। लेकिन एक प्रक्रिया है, जो परोक्ष रूप से इसमें सहायक होती है, यानी साक्षात्कार के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को दूर करती है, और वह चित्त की अवस्था, परिस्थिति और ग्रहणशक्ति के अनुसार बदलती रहनेवाली है।

कल्पना सीमित

शक्ति (पावर) और शक्तिमान् (पावरफुल) दोनों समान हैं, बल्कि एक ही हैं। अत: हमें उस शक्तिमान् को पहचानना है। वह क्या चित्त है, द्रव्य है, क्या है ? लेकिन शक्तिमान् का साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि शक्ति का स्रोत पकड़ में नहीं आता। हम तत्त्व को, उसके गुण-धर्म को केवल कल्पना में ही अलग कर सकते हैं। तत्त्व और उसके गुण से अलग करते ही, तत्त्व भले मिट न जाय, पर बेस्वाद जरूर हो जाता है। सत्य और प्रेम से भिन्न ईश्वरत्व की कल्पना करने का प्रयत्न किया जा सकता है, लेकिन मुझे लगता है कि जहाँ तक भावना की कल्पना-शक्ति आज पहुँची है, उससे ऐसी कल्पना करना भी सम्भव नहीं है। |

कल्पना की एक तरंग में हम कह सकते हैं कि ईश्वरत्व सत्य, असत्य और प्रेम आदि से भिन्न है । यह केवल कह ही सकते हैं, परन्तु साक्षात्कार की दृष्टि से यह कोरी कल्पना ही रहेगी | ईश्वर प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है। गांधीजी शुरू में कहते थे कि ईश्वर सत्य है। लेकिन बाद में कहने लगे कि अब मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि 'सत्य ही ईश्वर है।' इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। प्रेम आदि ये सारी कल्पनाएँ ईश्वरत्व का अंशमात्र हैं। यदि अन्धकार नहीं है, तो प्रकाश भी (जैसा कुछ आज हम उसे जानते हैं) नहीं है। इस अर्थ में प्रेम, करुणा आदि सारी बातें मानव-कल्पित हैं, पूर्ण ईश्वरीय नहीं।

नया चित्त: नया मनुष्य

भाषा में ईश्वरत्व का वर्णन करना सम्भव नहीं है । वह तो अनुभव किया जा सकता है । लेकिन चूँकि वह मनुष्य है, इसलिए अपना अनुभव शब्दों के द्वारा या ऐसे ही किसी माध्यम से व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। समाधि में हम ईश्वर को देख सकते हैं, सुन सकते हैं, सूँघ सकते हैं, स्पर्श कर सकते हैं, फिर भी यह समाधि का अनुभव इन सबसे भी कुछ परे है । जब हम समाधि से जगते हैं और बाहर

आते हैं, तब अपने को कुछ बदले हुए पाते हैं, एकदम परिवर्तित। पहले की किसी वस्तु से हम जकड़े नहीं रहते। सेंट पाल के शब्दों में चित्त नया हुआ कि मनुष्य नया बन जाता है। उसने रीन्यूइंग (पुनर्नवता) शब्द का प्रयोग किया है; वह अच्छा शब्द है। उस अनुभूति का प्रभाव हमारे चारित्रय पर स्थायी हो जाता है। एक बार वह अनुभूति पाकर मनुष्य धरती पर आता है, तो वह दूसरे मनुष्यों की तरह व्यवहार नहीं कर सकता; उसकी भावनाएँ दूसरों जैसी ही नहीं रहतीं; वैसा रहना सम्भव भी नहीं।

सामाजिक समाधि

मैंने सामाजिक समाधि (कलेक्टिव समाधि) शब्द का प्रयोग किया है। कुछ को यह बड़ा साहसपूर्ण लगा है। वे इसे बड़ी हिम्मत की बात बतलाते हैं। समाधि की अवस्था में हमारी आत्मा—उसे आत्मा कहें, जीव कहें या अहं—खो जाता है। यों उसे खोने पर भी वह पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाता। पूर्ण रूप से नष्ट हो गया होता, तो हम ही खत्म हो जाते, लौटकर न आते। लेकिन हम लौट आते हैं, इसका अर्थ ही है कि हम पूरे नष्ट नहीं हो जाते ! उस अनुभूति की अवस्था में हम एक व्यक्ति (इंडिविज्युल) के नाते नष्ट हो जाते हैं | फिर जब पूर्ण जाग्रति में लौट जाते हैं, तो इस शरीर में सीमित होते हैं; फिर भी प्रायः कुछ असीमित हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं | तब बड़े सहज भाव से, हमारे विशेष प्रयत्न के बिना ही, स्पर्शमात्र से फैलनेवाले संक्रामक रोगों की तरह वह अनुभूति में फैलती जाती है और इस क्रम से विश्व का परिवर्तन होता जाता है।

'मैं' से मुक्त 'हूँ'

मेरी दृष्टि में व्यक्तिगत मुक्ति जैसी कोई चीज है ही नहीं; बल्कि विश्व का कुल का कुल समूह परिवर्तित होना चाहिए। प्रत्येक को परिवर्तित होना चाहिए। मुक्ति तो नयी चीज नहीं है। वह तो पहले से ही है, बाद में भी है; लेकिन वह हमारे अनुभव में नहीं है। इसलिए हमें वह 'हूँ' पुनः प्राप्त करना है और 'मैं' को हटाकर करना है। भाषा इतनी सीमित है कि 'हूँ' कहते ही 'मैं' साथ में जुड़कर चला आता है। लेकिन यह व्याकरण की सीमा है, यह अलग बात है।

जब तक मानवमात्र उस समाधि की अवस्था को प्राप्त नहीं करता है, तब तक हमें सन्तोष नहीं है। मैं आम खाता हूँ, तो उसका रस मुझे मिलता है। आपके साथ बाँटे बिना मैं अकेला वह खाना नहीं चाहता।

अपौरुषेय व्यक्ति

चाहे कृष्ण हों या ईसा, मेरे लिए वे अपौरुषेय व्यक्ति हैं—यदि ऐसा कहा जा सके, तो। भले वे ऐतिहासिक पुरुष रहे होंगे, लेकिन अब इतिहास से परे हो गये हैं।

सेंट पाल ने यह नहीं कहा कि हम ईसा का सन्देश फैलाते हैं, बल्कि यह कहा कि "हम उस ईसा का सन्देश फैलाते हैं, जो सूली पर चढ़ाया गया (क्रूसिफाइड) । यहूदी लोग चमत्कार चाहते हैं; ग्रीक लोगों को ज्ञान चाहिए; हम प्राणमुक्त ईसा (Christ Crucified) का सन्देश फैलाते हैं।" यहाँ 'ईसा' से 'क्रास पर चढ़ा ईसा' बिल्कुल भिन्न है। सूली पर चढ़ा ईसा जीवित ईसा था, जो आज भी है और आगे भी रहेगा। इसलिए मैं उसे अपौरुषेय कहता हूँ। इम्पर्सनल मानता हूँ । भारत में श्रीकृष्ण की भी यही स्थिति है। उस कृष्ण के कई दिव्य (ईश्वरीय) अनुभवों का वर्णन हमारे वैष्णव सन्तों ने किया है। हाँ, उनमें कुछ मतान्तर जरूर मिलेंगे।

भारत में ऐसे भक्त और सन्त हो गये हैं, जिन्होंने ईश्वर को मानो प्रत्यक्ष देखा है। हम मन्दिर में जाते हैं, तो वहाँ एक भव्य वातावरण देखने को मिलता है, जैसे वहाँ भगवान् प्रत्यक्ष सामने है। वह दीख रहा है, हम देख रहे हैं, उसका स्पर्श कर रहे हैं, उसके चरण छू रहे हैं और जैसे बच्चे को सुलाते समय लोरी गाते हैं, उसी प्रकार का नाटक हम मन्दिरों में करते हैं और यह सारा बहुत आनन्ददायक लगता है।

मानव-सेवा और भूतदया

सभ्य ईसाई-समाज की प्रार्थना में पूर्ण शान्ति और पवित्रता का दर्शन होता है। वहाँ न संगीत चलता है, न ही कोई चित्र रहता है; केवल सादी पूजा चलती है। और मन्दिरों में ऐसा लगता है कि वे मानो मानवता (ह्यमैनिटी) में तथा मानवता की सेवा में ईश्वर का दर्शन करने का प्रयत्न करते हों—[मानवता (ह्यमैनिटी) की यह एक ऊँची श्रेणी है; वह कभी-कभी संकुचित भी होती है।] संस्कृत में इस

तरह का शब्द नहीं है; इस शब्द का भाषान्तर नहीं हो सकता। हमारे यहाँ भूतदया शब्द चलता है। उसका अर्थ है, प्राणिमात्र की सेवा। यहाँ के लोगों से पूछा जाय कि प्राणिमात्र की सेवा कैसी होती है, तो उसके उत्तर में उन्हें कुछ विवरण प्रस्तुत करना पड़ेगा, जो आधुनिक परिभाषा में मानव-सेवा और प्राणि-सेवा आदि से मिलती-जुलती बात ही होगी। तफसील में उतरने पर यही सब होता है। लेकिन यहाँ जो शब्द चलता है, वह है—भूतदया या प्राणिमात्र की सेवा, और उधर इन दिनों शब्द चलने लगा है—सेवा। ईसाई लोग ईसा को साकार या मूर्त ईश्वर ही मानते हैं। लेकिन ईसा ने यह कहा था : हे ईश्वर, मुझे क्यों भुला दिया ? हो सके, तो मेरा दुःख दूर करो। लेकिन यदि सम्भव न हुआ, तो जो तुम्हारी मर्जी हो, सो होने दो। इससे स्पष्ट दीखता है कि ईसा निपट मानव था। मेरी दृष्टि में उसके मानव बने रहने में ही मधुरता है। लेकिन इससे उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियों की सीमा आ जाती है।

आत्म-निरीक्षण

प्रश्न : ज्ञान की ऐसी उच्च स्थिति में जब आप बोलते हैं, तब क्या आप समाधिस्थ रहते हैं ?

विनोबा : शायद मुझे समाधि की अनुभूति हुई है। मैं 'शायद' इसलिए कह रहा हूँ कि मैं यह नहीं जानता कि वह वास्तविक है या अवास्तविक। यह विज्ञान के परखने की बात है।

जीने की कला

प्रश्न : क्या सामाजिक समाधि के लिए हम कुछ कर सकते हैं ? सम्भवत: वैसा जीवन जीना और लोगों से प्रेम करना ही एक उपाय है। लेकिन विकास की यह प्रक्रिया बहुत मन्द गति से चलती होगी।

विनोबा : आपने जीवन जीने की बात की—यह बड़ी चीज है। शब्द छोटा है, लेकिन उसमें बहुत अर्थ निहित है। हमें ऐसा जीवन जीना है, जो स्थायी है, अपरिवर्तनीय है। अखण्ड और असीम स्थिति में जीते हुए, पड़ोसियों की सेवा करते हुए 'पड़ोसियों पर अपने जैसा प्रेम करो'—इस वचन का चिन्तन करते-करते जब हमें स्वयं वैसी अनुभूति होने लगेगी, तब हम पड़ोसियों पर प्रेम करेंगे। ईसा ने यही नहीं कहा कि 'पड़ोसियों पर प्रेम करो', यद्यपि वही काफी था। ईसा को लगा कि हमें यह जो अनुभव करना है, उसका कुछ आधार होना चाहिए। तब उसने जोड़ दिया—'अपने जैसा'। केवल प्रेम करना काफी

नहीं है। हम अपने बच्चों से प्रेम करते हैं, लेकिन माँ भी यह दावे के साथ नहीं कह सकती कि वह अपने बच्चे से वैसा ही प्रेम करती है, जैसा खुद से करती है। यह कहना माता के लिए बहुत बड़ा दावा होगा। हाँ, कुछ माताएँ ऐसा प्रेम करती हैं। अपने जैसे ही पड़ोसी से प्रेम करना बहुत गहरी बात है।

इसमें मेरे और मेरे पड़ोसी के बीच कोई भेद नहीं रह जाता। यह दोनों को एक सत्त्व (एन्टीटी) मिला देता है। जब तक हम उस सत्त्व का अनुभव नहीं कर लेते, दोनों में कुछ अन्तर महसूस करते रहेंगे, तब तक हम प्रेम करने का प्रयत्न करते रहेंगे। वह प्रेम नहीं है, प्रेम करने का प्रयत्न है।

राजनीति का गलत आधार

अगर यह समझ में आ गया, तो फिर यह समझाने की आवश्यकता नहीं रहती कि राजनीति के दिन अब समाप्त हो गये, ऐसा मैं क्यों कहता हूँ। तथाकथित राजनीति का सारा आधार यह मेरा देश, यह तुम्हारा देश, मेरा समाज, तुम्हारा समाज आदि विभाजन की मनोभूमिका और काल्पनिक भेदभाव ही होता है। यहाँ तक कि स्वतंत्रता की बात भी, यद्यपि पिछले दिनों उसके बारे में हम बहुत सुनते रहे, अब मेरे लिए अर्थहीन हो गयी है। मैं नहीं जानता कि आगे कौन-सा शब्द आयेगा। हो सकता है कि सह-अधीनता (को-डिपेण्डेन्स) या अन्तर-अधीनता (इण्टर-डिपेण्डेन्स) या ऐसा ही कुछ होता होगा।

राजनैतिक लोग भी समझ गये हैं कि जैसे-जैसे विज्ञान की प्रगति हो रही है, वैसे-वैसे राजनीति निरर्थक होती जा रही है। फिर भी अभ्यासवश वे सन्दिग्धावस्था में काम करते जा रहे हैं।

ग्राम-परिवार से विश्व-परिवार

इन दिनों सभी राष्ट्रों के पास सेना है । रूस के पास भी बड़ी सेना है और अमेरिका के पास भी बड़ी सेना है। फिर संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास भी कुछ सेना है। आखिर उस सेना का क्या उपयोग ? पिछले दिनों कांगो वगैरह में उसका कुछ उपयोग हुआ। लेकिन विश्व-समस्या के समाधान का मार्ग यह नहीं है। उसके लिए पड़ोसीपन का और 'पड़ोसियों पर प्रेम करो' का दायरा विशाल करना होगा। मैं हर रोज गाँववालों से कहता रहता हूँ कि यहाँ यह गाँव है और वहाँ वह विश्व है। जय जगत् ! एक विश्व-परिवार है और एक ग्राम-परिवार है। भारत के गाँवों में कई जातियों के, कई धर्मों के और कई भाषाओं के लोग रहते हैं। ये गाँव समूचे विश्व का साररूप हैं, छोटा नमूना हैं। यदि 'पड़ोसियों पर अपने जैसा प्रेम करो'

की भावना के आधार पर हम गाँव में एकता स्थापित कर सके, तो विश्व की एकता स्थापित करने का शिक्षण हमें मिलेगा। जिस तरह छोटे त्रिकोण में जो सिद्धान्त लागू होता है, वही बड़े त्रिकोण में भी (यदि उसमें कोई विशेष बात न हो तो)—काम करता है; उसी प्रकार विश्वभर की विविधताओं के भरे हुए एक गाँव को हम सत्य, प्रेम और करुणा के आधार पर एक कर सकेंगे, तो उसी नमूने पर समूचे विश्व में एकता स्थापित कर सकेंगे। इसका प्रारम्भ हमें अपने आसपास के क्षेत्र से करना चाहिए।

सार-तत्त्व : प्रत्यक्ष जीवन

प्रश्न : संसार का प्रत्येक व्यक्ति समाधि की अनुभूति कर ले, आपके शब्दों में सामाजिक समाधि सिद्ध हो जाय, तो क्या मानवता का वही अन्तिम समाधान है ? क्या विश्व की सारी समस्याओं का हल उससे होगा ?

विनोबा : प्रश्न बहुत बड़ा है, फिर भी उसका उत्तर आसान है। आध्यात्मिक अनुभव जब तक रहस्य ही बना रहता है, तब तक वह अनुभव ही नहीं माना जायगा | लेकिन वह अनुभव प्रत्येक को स्पष्टतया हो सकता है और उसके लिए हमें वह जीवन जीना होगा। [डॉ० जानसन् आदि के साथ की चर्चा से; '६२]

२. आत्मज्ञान

१. आत्मशब्द-विवेचन

शब्द-व्युत्पत्ति

आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति चार प्रकार से दी जाती है। एक श्लोक में इसका इस प्रकार संग्रह किया गया है :

यदाप्नोति यदादत्ते, यच्चात्ति विषयान् इह।

यच्चास्य सन्ततो भाव, तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।

'आप्' व्याप्तौ, 'आ दा' आदाने, 'अद्' भक्षणे, 'अत्' सातत्यगमने—इस तरह ये चार व्युत्पत्तियाँ हैं। मुझे ये सारी ही काल्पनिक लगती हैं। इनमें से अन्तिम व्युत्पत्ति वास्तविकता के कुछ निकट कही जा सकती है। वास्तव में, मेरे मत से आत्मा शब्द 'आत्' धातु का रूप है। 'आत्' पूर्ववैदिक धातु है। इसका संस्कृत में लोप हो गया है। पर ज्ञानेश्वरी की मराठी में ज्यों का त्यों और तमिल आदि द्रविड़ भाषाओं में यह धातु अपभ्रंश रूप में प्रकट हुआ है। 'आत्' धातु का भूत-कृदन्त रूप ज्ञानेश्वरी की भाषा में 'आतला' होता है। 'आत्' मूलतः 'अस्' और 'भू' के बीच का है। यद्यपि इस अर्थ-भेद का आगे लोप हो गया है, तो भी विचार-दृष्टि से यह महत्त्व का है। 'अस्' यानी 'केवल होना'—निर्गुण। 'भू' यानी 'विविध भावयुक्त होना'—सगुण। 'आत्' यानी 'हो सकनेवाला होना'—बीच की स्थिति, सगुण-गर्भ निर्गुण। 'आत्मन्' का साथी 'भूमन्' एक परमात्मवाचक शब्द उपनिषदों में आता है। दोनों का स्थूल रूप से एक ही अर्थ है | बारीकी से देखें, तो 'भूमन्' विशेषण सगुण है। भूमन् 'भू' धातु से बना है। इसे ध्यान में रखने से यह सूक्ष्म भेद स्पष्ट हो जाता है। 'भूमन्' शब्द की व्युत्पत्ति ''बहु+इमन्" इस तरह पाणिनि ने बतायी है । इसका कारण यह पूर्ववैदिक धातु 'आत्' पाणिनि को सम्भव है, ज्ञात न हो। ज्ञात होता, तो उन्हें आत्+मन् =आत्मन् तथैव भू+मन्=भूमन् यह सूझता। इसके अभाव में उन्हें 'अणिमन्', 'गरिमन्' आदि वर्ग में भूमन् को बैठाने की व्यवस्था करनी पड़ी है। सम्भवत: उपनिषदों में भूमन् शब्द जहाँ आया है, वहाँ वह अल्प के विरोधी के रूप में उपस्थित किया गया है और इसी कारण पाणिनि को ऐसा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो। परन्तु 'भूमन्' 'भू' धातु से लगाने से विश्वरूप परमात्मा का

वाचक होता है। फिर विश्वरूप में बहुत्व आ ही जाता है। किंबहुना, बहु शब्द मूल में 'भू' धातु का ही रूप है। इसकी ओर ध्यान देने पर तनिक भी कठिनाई नहीं रहती। परन्तु ब्रह्मन् निर्गुण, आत्मन् सगुण-निर्गुण, भूमन् सगुण—इस तरह का भेद विश्लेषण के लिए किया जाय, तो भी अन्त में उस सबको भुलाकर 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इतना ही रहता है। [ईशावास्य-वृत्ति, मंत्र ६ का अंश]

जीव, आत्मा और परमात्मा

एक होता है पापात्मा, एक होता है पूतात्मा और एक होता है परमात्मा। जो वासनाओं से जकड़ा हुआ है वह पापात्मा है; उसकी पापवासना खत्म होने पर वह शुद्ध यानी पूतात्मा होगा। पापात्मा को थोड़े में जीव कहा, पूतात्मा को आत्मा कहा। शुद्ध होने के बाद जब वह व्यापक बनेगा तब वह परमात्मा होगा। इस तरह से तीनों एक ही हैं, लेकिन भूमिकाएँ तीन हैं। सबसे नीचे की भूमिका में बहुत सारे जीव हैं, उनको सामान्यतः जीव कहते हैं | वे सभी पापी हैं, इसलिए उन्हें पापात्मा नाम दिया। पाप समाप्त होने के बाद जो जीव शुद्ध होता है, उसको पूतात्मा नाम दिया। वह आत्मा है; क्योंकि आत्मा स्वयंपूत होता है । वह वासनाओं से भिन्न होता है, वह आत्मस्वरूप है, इसलिए उसको केवल आत्मा कहते हैं । और जो व्यापक बना है, वह है परमात्मा। वह स्वयंसिद्ध है । [ललाट, मेदिनीपुर, प० बंगाल; २६-७-'६३]

२. आत्मज्ञान का ध्येय

आत्मज्ञान का क्या ध्येय है ? हिन्दुस्तान के आत्मज्ञान का ध्येय बहुत ही छोटा है। माया-मोह और पाप-पुण्य हो या न हो, जैसी भी परिस्थिति हो, सन्तोष से रहना है। बाहरी सुख-दुःख से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। पूछा जाय कि इतना दुःख है, फिर भी शान्ति कैसे ? तो कहते हैं : ''ईश्वर की लीला ही ऐसी है ।'' वे मानते हैं कि मुक्ति उनके नजदीक है। एक भाई ने मुझे लिखा था कि "कैसी माया में, कैसे अहंकार में पड़े हो ? भला ऐसे भी दुनिया का उद्धार होगा ? ऐसे काम को पटक दो !" लेकिन सवाल है कि फिर करें क्या ?

उनकी गुरु एक स्त्री थी, जिनसे सात साल पहले मेरी मुलाकात हुई थी। वह बहुत शान्त और बड़ी साध्वी थीं। उस भाई ने मुझे लिखा "तुम उस स्त्री की शरण में जाओ। वह देवता, परादेवता है।''

मैंने पूछा : “वहाँ क्या करना होगा ?” उन्होंने लिखा : “सवाल पूछते हो ? ऐसा सवाल पूछना ही अज्ञान है, यही अहंकार है। करना-धरना क्या है ? यहाँ आकर बैठ जाओ, परम शान्ति मिलेगी।” यह कितना सुन्दर पत्र लिखा ! इस प्रकार हिन्दुस्तान के लोग मुक्ति को नजदीक देखते और कहते हैं कि हमें आत्मज्ञान हासिल हो गया। सिर्फ गांधी ही ऐसा आदमी निकला, जो आखिर तक कहता रहा कि मुझे ज्ञान नहीं हुआ है। जिस प्रकार विज्ञान के सामने असम्भव ध्येय है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के सामने भी होना चाहिए। जैसे विज्ञान कुल ब्रह्माण्ड पर स्वामित्व चाहता है, वैसे ही हमें भी कुल आत्मशक्ति पर प्रभुत्व हासिल करने की चाह रखनी चाहिए।

आज का अधूरा आत्मज्ञान

हमने धर्म-साहित्य का जो कुछ अध्ययन किया है, उस पर से यही समझ पाये हैं कि अभी तक मानव-समाज को आत्मज्ञान का छोटा-सा अंश ही हासिल हुआ है। हमारे सामने किसी आदमी को बिच्छू काटता है तो ज्यादा-से-ज्यादा हममें थोड़ी-सी करुणा पैदा होती है। यदि आत्मज्ञान हुआ हो—''मैं और वह एक हैं” यह आत्मानुभूति हुई हो, तो उसे जो वेदना हुई, वही हमें भी होनी चाहिए। इसके बजाय अगर हम अत्यन्त प्रसन्न हैं, शान्त हैं, तो जिसे बिच्छू ने काटा है, उसे भी शान्ति और आनन्द पहुँचना चाहिए। दोनों में से एक तो होना ही चाहिए—बिच्छू का डंक हमारे शरीर पर उभर आये या हमारे आनन्द और शान्ति का भाव बिच्छू काटनेवाले के पास पहुँच जाय। अभी हमें इतना व्यापक आत्मज्ञान नहीं हुआ है। एक अंशमात्र हुआ है। इसीलिए हमारे अन्दर थोड़ी-सी करुणा ही पैदा होती है। [अरसीकेरे, हासन, मैसूर; ८-११-’५७]

कथनी और करनी में ऐक्य हो

ईसामसीह ने कहा था कि ‘लव दाइ नेबर ऐज दाइसेल्फ'—अपने पड़ोसी पर अपने जैसा ही प्रेम करो। बोलने में तो सहज ही यह बात बोल देते हैं, लेकिन इस पर जब सोचते हैं, तो मालूम होता है कि यह हममें तब तक नहीं आ सकती, जब तक कि हम अपने मूल स्वरूप तक गोता नहीं लगाते। यों भी कई कारणों से पड़ोसी पर प्रेम करना सदैव लाभदायी होता है, इसलिए वह तो हम करेंगे ही। फिर भी ईसामसीह ने जो कहा, वह बहुत गहरी बात है। उस दृष्टि से हम अपने को तौलें, तो मालूम होगा कि

हम ऊपर-ऊपर से समानता की कुछ बातें कर लेते हैं, परन्तु वह बिल्कुल नकली साम्य है। जब तक अन्दर से यह अनुभूति नहीं होती कि "हम सब एक ही हैं—भिन्न-भिन्न आकार दीख पड़ने पर भी एक ही वस्तु हैं'', तब तक इस ऊपरी एकता से कुछ नहीं बनेगा। हम गांधीवाले प्रार्थना करते हैं, उससे भी कुछ लाभ है। उसमें हम कुछ सुधार भी करते रहते हैं । फिर भी उसमें भक्ति से हृदय द्रवित होने की बात नहीं दीखती। हम बीमारों की सेवा करते हैं—दुनिया में दूसरी जो सेवाएँ चलती हैं, उनके मुकाबले में बहुत अच्छी सेवा करते हैं। किन्तु उसमें भी हमारा एक क्षेत्र बना है। हम क्षेत्र के अनुसार काम करते हैं। हमारी संस्थाएँ इतनी शुष्क बनती हैं कि उनमें कुछ आत्मतत्त्व ही नहीं होता। मनुष्यों में तो होता है, लेकिन क्या संस्थाओं में भी आत्मा होती है ? नहीं। नयी तालीम, खादी-ग्रामोद्योग आदि में सारा ऊपर का 'टेकनिक' ही होता है। नयी तालीम के साथ क्या जोड़ना चाहिए आदि के बारे में अनुभव भी बताये जाते हैं। किन्तु ज्ञान और कर्म को बिल्कुल एकरूप बनाने की असली बात तो बनती ही नहीं।

दृष्टि में मौलिकता का अभाव

इन सबका तात्पर्य यही है कि बापू ने हमारे सामने कुछ ऐसी बातें रखी थीं, जो आध्यात्मिक क्षेत्र में ही रखी जा सकती थीं, दूसरे क्षेत्र में नहीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पाँच यमों के साथ और कुछ चीजें जोड़कर उन्होंने एकादश-व्रत हमारे सामने रखे। यह कल्पना नयी नहीं, पुरानी है। लेकिन समाज-सेवा के काम में व्रत जरूरी हैं, यह बात बापू ने ही प्रथम रखी। पहले ये बातें आध्यात्मिक उन्नति के लिए जरूरी मानी जाती थीं। योगी, साधक आध्यात्मिक विकास करने के लिए यम-नियमों का पालन करते थे। पतंजलि ने ये ही बातें कही हैं। बुद्ध, महावीर, पार्श्वनाथ आदि ने भी इन पर लिखा है । भक्तों ने सारी दुनिया में इनका विकास किया है । परन्तु वे सारी चीजें समाज-सेवा के लिए जरूरी हैं, उनके बिना समाज-सेवा नहीं हो सकती, यह सिद्धान्त बापू के आश्रम में ही मैंने प्रथम पाया। इनमें कोई ऐसी बात नहीं थी, जो मुझमें न हो। बचपन से ही मैं व्रत-पालन की कोशिश करता रहा। लेकिन वहाँ जो उद्देश्य रखा गया था, वह विशेष बात थी। बापू ने हमारे सामने विश्वहित से अविरोधी भारत की सेवा का उद्देश्य रखा और उस ध्येय की सिद्धि के लिए हम एकादश-व्रत मानते हैं ऐसा कहा। यह चीज हमने और कहीं नहीं पायी। बापू ने उसके साथ आश्रम का कार्यक्रम और कर्म की विविध शाखाएँ भी हमारे सामने रखीं। इस तरह देश-सेवा के एक मूल उद्देश्य (जो विश्व-हित का अविरोधी—विश्व-हित से जुड़ा हुआ

था) के लिए साधकों की जीवन-निष्ठा के तौर पर 'आर्टिकल ऑफ फेथ' एकादश-व्रत और उनके लिए दिनचर्या, उनकी पूर्ति के लिए खेती, गोशाला, खादी आदि का पूरा कार्यक्रम बापू ने हमारे सामने रखा। इन स्थूल प्रवृत्तियों में से जितनी हम उठा सकते हैं, उठाते हैं । विश्व-हित के साथ हमारा विरोध न हो, यह चाहते हैं। परन्तु बीच का जो था, वह गायब हो जाता है। इसका यह मतलब नहीं कि हम सत्य, अहिंसा आदि को मानते ही नहीं हैं। परन्तु वह मूल वस्तु हममें विकसित होती है या नहीं, इसकी तरफ हम ध्यान नहीं देते।

साधना की बुनियाद

बापू तथा दूसरों के जीवन में हम देखते हैं कि उनके सामने कुछ आध्यात्मिक प्रश्न थे। उन प्रश्नों की तृप्ति हुए बिना वे आगे नहीं बढ़ते थे। ईसा की जिन्दगी सिर्फ ३३ साल की थी और उनमें से वे तीन ही साल फिलस्तीन में, हिन्दुस्तान के दो-तीन जिले जितने दायरे में घूमे थे, परन्तु आज उनके विचारों का असर सारी दुनिया पर है। ईसाइयों की संस्थाओं की उतनी कीमत नहीं है; परन्तु ईसामसीह का जो असर है, उसकी बात कर रहा हूँ। पहले ३० साल तक ईसामसीह ने क्या किया, इसका पता नहीं है। कहा जाता है कि वे बढ़ई का काम करते थे। परन्तु उसमें उन्होंने कौन-सी साधना की, सिवा इसके कि उपवास किये और शैतान के साथ उनका मुकाबला हुआ। इससे ज्यादा हमें कुछ भी मालूम नहीं। अब तो यहाँ तक कहा जाता है कि वे तिब्बत तक आये थे। बात यह है कि कुछ बुनियादी आध्यात्मिक प्रश्न थे, जिन्हें हल करके ही वे निकले। 'लव दाइ नेबर ऐज दाइसेल्फ', इन शब्दों में उन्होंने शत्रु पर प्यार करने की जो जोरदार बात कही है, वह बिना अनुभव के नहीं कही जा सकती | इसी तरह बुद्ध भगवान् ने यह सवाल उठा लिया कि "यज्ञ में हिंसा न हो" और वे बिहार और उत्तर प्रदेश के १२-१४ जिलों में घूमे, यह तो हम सभी जानते ही हैं । लेकिन जब उन्होंने तपस्या की तो क्या किया, यह किसीको मालूम नहीं। वे कितने मण्डलों में गये, कितने पन्थों में गये, ध्यान के कितने प्रकार उन्होंने आजमाये और इन सबके परिणामस्वरूप उनके चित्त को कैसी शान्ति मिली और कैसे यह निर्णय हुआ कि दुनिया में 'मैत्री' और 'करुणा' ये ही दो शब्द हैं—यह सब हम नहीं जानते। आगे की चीज तो जानते हैं, लेकिन पहले क्या हुआ, इस बात को नहीं जानते।

'ईश्वर-दर्शन' भी सम्भवनीय

बापू की आत्म-कथा हम पढ़ते हैं, तो इसकी कुछ थोड़ी-सी झाँकी मिलती है। रायचन्दभाई के साथ उनकी जो चर्चा हुई, वह भी हम जानते हैं । लेकिन उनके मन में आध्यात्मिक शंकाएँ थीं और उनकी निवृत्ति के बिना वे काम में नहीं लगे थे। 'मिस्टिक एक्सपिरियेन्सेस' (आत्मिक अनुभवों) के बिना बापू सेवा में नहीं लगे थे। वे कहते थे कि सत्य ईश्वर है। इसलिए लोग समझते थे कि यह वैज्ञानिक बात है। परन्तु वह सिर्फ वैज्ञानिक बात नहीं। मैंने उन्हें इस विषय में छेड़ा था। जब खान अब्दुल गफ्फार खाँ की मदद में जाने की बात चल रही थी, तब उन्हें लगा था कि अब वापस आना नहीं होगा। इसलिए उन्होंने मुझसे कहा था कि "तुम्हारे साथ बातें करना चाहता हूँ।" में अक्सर उनके पास नहीं जाता था। इसलिए उन्हें लगा कि यह बिना बुलाये नहीं आयेगा। १५ दिनों तक बातें चलती रहीं। पहले दो-तीन दिनों तक तो वे ही सवाल पूछते गये और मैं जवाब देता गया। परन्तु एक दिन उन्हें मैंने ईश्वर के अनुभव के बारे में छेड़ा : ''आप सत्य ईश्वर है, यह जो कहते हैं, वह ठीक है। परन्तु उपवास के समय आपने कहा था कि 'अन्दर से आवाज सुनायी दी', वह क्या बात है ? क्या इसमें जादू है ?'' उन्होंने कहा : "हाँ, उसमें कुछ बात है । वह कोई साधारण चीज नहीं है। मुझे स्पष्ट आवाज सुनायी दी। जैसे कोई मनुष्य बोलता है, वैसे ही सुनायी दी।" मैं पूछता गया ; "मुझे क्या करना चाहिए ?'' उन्होंने कहा : "उपवास करना चाहिए।'' मैंने पूछा: "कितने दिन का उपवास करना चाहिए ?'' तो उन्होंने कहा : "इक्कीस दिन।" यानी इसमें कोई पूछनेवाला था और दूसरा जवाब देनेवाला। बिल्कुल कृष्णार्जुन जैसा संवाद था। बापू तो सत्यवादी थे, इसलिए इसमें कोई गलत नहीं हो सकता। उन्होंने कहा : ''मुझे साक्षात् ईश्वर ने यह बात कही ।" फिर मैंने पूछा : "क्या ईश्वर का रूप हो सकता है ?'' वे बोले : "रूप तो नहीं हो सकता, लेकिन मुझे आवाज अवश्य सुनायी दी।" इस पर मैंने कहा : "रूप अनित्य है, तो आवाज भी अनित्य है। अगर आवाज सुनायी दी, तो रूप कैसे नहीं दिखाई दिया ?'' फिर मैंने उनके सामने कुछ जानकारी रखी। दुनियाभर के आत्मिक अनुभव और अपने भी अनुभव रखते हुए कहा : ''ईश्वर दर्शन कैसे नहीं दे सकता ? आपके मन में सवाल-जवाब हुए। उनका ईश्वर के साथ ताल्लुक है न ?" उन्होंने कहा : "हाँ, उनके साथ ताल्लुक है । मैंने आवाज सुनी, लेकिन मुझे दर्शन नहीं हुआ। मैंने

रूप नहीं देखा। उसका शब्द मैंने सुना । लेकिन उसका रूप है, इसका मुझे अनुभव नहीं हुआ, मुझे साक्षात् दर्शन नहीं हुआ। लेकिन वैसा दर्शन हो सकता है।" [जम्मू, कश्मीर; ८-९-'५९]

३. आत्मज्ञान की व्याख्या

अध्यात्म

प्रश्न : अध्यात्म क्या चीज है ? उसमें किस तरह प्रवेश किया जाय ?

उत्तर : अध्यात्म उसको कहते हैं, जिसके द्वारा पूरे ब्रह्माण्ड को अपने में पहचान सकते हैं। ब्रह्माण्ड के स्वरूप का और उसके कर्त्ता का पता लगाना सम्भव नहीं है। वह अत्यन्त व्यापक और सूक्ष्म है। फिर भी उसे पहचानने का प्रयत्न किया जा सकता है। प्रयत्न बाहर से भी किया जा सकता है और अन्तर्निरीक्षण से भी किया जा सकता है। फिजिक्स (पदार्थ-विज्ञान) विश्व का बाह्य रूप समझने में मदद करता है। मेटा-फिजिक्स (अतीन्द्रियवाद) विश्व का आन्तरिक रूप थोड़ा-सा समझाता है, लेकिन इन शास्त्रों से पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। मिसाल के तौर पर मनुष्य चन्द्रमा पर पहुँच जायगा। लेकिन वह बिल्कुल मामूली बात मानी जायगी। आकाश में इतने तारे, नक्षत्र, ग्रह हैं कि उन पर पहुँचना असम्भव है। कुछ ग्रह तो इतने दूर हैं कि उनकी प्रकाश-किरणें भी अभी तक धरती पर पहुँची नहीं हैं। इसका अर्थ यही है कि विज्ञान के द्वारा की गयी खोजों से यानी बाह्य विश्व में की गयी खोजों से ब्रह्माण्ड के और उसके कर्ता के विषय में बहुत नहीं पा सकेंगे।

मैं कई बार समझाता हूँ कि शरीर के अवयवों में जो व्यवस्था है, वैसी व्यवस्था हमें समाज-रचना में लानी है। यह इसलिए समझाता हूँ कि जो कुछ सृष्टि में है, वही पिण्ड में है। जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। परन्तु वह बहुत दूर है। इतना दूर कि उसको समझना आसान नहीं है और उसका कर्ता कौन, यह समझना तथा उसको प्राप्त करना और भी अधिक दुर्लभ है। इसलिए उसको समझने का आसान तरीका है, उसे पिण्ड में जानना। वही अध्यात्म है।

पिण्ड में देखना यानी भीतर देखना; और सृष्टि में देखना यानी बाहर देखना। सृष्टि में देखने के लिए और सुनने के लिए बहुत सारी सहूलियतें हैं । कान हैं तो सुन सकते हैं, आँखें हैं तो सृष्टि का रूप देख सकते हैं | मदद के लिए बहुत सारे वैज्ञानिक उपकरण भी उपलब्ध हैं। ऐसी सहूलियतें पिण्ड में

देखने के लिए नहीं हैं। एक्स-रे (क्षकिरण) वगैरह के द्वारा अन्दर के अंग देखने का वैज्ञानिकों ने थोड़ा प्रयत्न किया है, परन्तु पूरे पिण्ड की जानकारी विज्ञान को नहीं है। अगर हम पिण्ड को समझ सकें, तो बहुत सारा काम हो जायगा। उसके लिए मुख्य चार मार्ग हैं—

१. ज्ञानमार्ग—इसमें जानकारी प्राप्त करनी होती है। निरीक्षण इत्यादि का भी इसमें समावेश होगा। जैसे कि अपने स्वप्नों को जाँचना—स्वप्न कौन से विचार से या प्रसंग से सम्बद्ध था, उस पर सोचना इत्यादि ।

२. कर्ममार्ग—इसमें पिण्ड का सदुपयोग करने की बात है। जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, चित्त, बुद्धि आदि हैं, उनसे अच्छी तरह से काम लेना और उनको शुद्ध करते जाना।

३. योगमार्ग—योग यानी अनेक प्रकार से अपने पर नियंत्रण रखना। इसके द्वारा देह में साक्षीरूप रहकर तत्त्व पहचानना सम्भव होता है।

४. भक्तिमार्ग—इसका तथ्य है बाहर से मदद लेना। किस तरह से मदद लेना ? सत्संग से, ईश्वर की प्रार्थना से, सद्ग्रन्थ से। इन सबसे मदद लेकर नम्रभाव से शक्ति प्राप्त करना।

अध्यात्म को पाने के लिए इन चारों मार्गों से जाना होगा।

प्रश्न : सारा ब्रह्माण्ड पिण्ड में है, तो पिण्ड क्या है ? पिण्ड और आत्मा में क्या भेद है ? शरीर का सदुपयोग कैसे किया जाय ? उसके नियंत्रण के कौन-से उपाय हैं ?

उत्तर : समझने की मुख्य बात यह है कि देह से हम भिन्न हैं। हम देखते हैं कि देह बदलती रहती है—कभी बीमार होती है, कभी अच्छी होती है । जब देह बीमार होती है, तब हम डॉक्टर के पास जाते हैं, और इलाज करवाते हैं। एक चरखा है। वह बिगड़ गया, तो खुद बढ़ई के पास जाकर खुद को दुरुस्त नहीं करायेगा। उसी तरह अगर देह में देह से भिन्न कोई चेतना नहीं होती, जो उसकी चिन्ता करती है, उसको दुरुस्त करने की कोशिश करती है, तो देह भी डॉक्टर के पास नहीं जाती। मतलब, देह से भिन्न कोई ऐसी चेतना हमारे अन्दर है।

अब कोई कह सकता है कि यह सारा बुद्धि या मन के द्वारा होता होगा। लेकिन सोचने पर वह भी ठीक नहीं लगता। मनुष्य कई बार कहता है कि मेरी बुद्धि थक गयी है, स्मृति पहले की अपेक्षा कम

हुई है, मन बिगड़ गया है । ऐसा कहकर वह डॉक्टर के पास जाता है, योगी के पास जाता है और उपचार करता है। बुद्धि कमजोर हुई, मन बिगड़ गया, यह कहनेवाला कौन है ? मन-बुद्धि से अलग कोई है। यानी शरीर हो, मन हो या बुद्धि हो, जो कुछ भी हो, उन सबको जाननेवाला, उन सबकी चिन्ता करनेवाला और उन सबसे भिन्न ऐसा कुछ अपने में है । यह बात जिसके ध्यान में आयी, वह मुक्त हो गया। वह अपने शरीर को, अपने मन को हर स्थिति में सँभालेगा। वह यह भी समझेगा कि जिस परिस्थिति में शरीर या मन को रखने से मोहित होने की सम्भावना है, उससे हटना चाहिए। अन्यथा वह मन का गुलाम होगा।

देह से, मन से, बुद्धि से अपना 'अलगपन' अनुभव करेंगे, तभी उनके दोषों को दुरुस्त करना सम्भव होगा। फिर इन दुरुस्तियों के लिए निरीक्षण करना, दूसरों की सहायता लेना, सत्संग करना आदि करना होगा। भक्ति वगैरह चार मार्ग इसीमें आते हैं। जो अपने को भिन्न मानता है, वह दोषों से कभी हारेगा नहीं। वह हमेशा विश्वास रखेगा, भीतर से शक्ति महसूस करेगा कि मैं दोषों को दुरुस्त कर सकूँगा। क्योंकि वह जानता है कि मैं 'अलग' हूँ, 'मैं' तो सदा दुरुस्त ही हूँ, यह देह-बुद्धि मेरा साधन है, वह थोड़ा बिगड़ गया है, उसको सुधारना है। उसको यह भान रहेगा।

इस दुरुस्ती के लिए जो भी मदद चाहिए, वह जगत् में है। लेकिन वह मदद लेने की भी तो अक्ल चाहिए। वह अक्ल ही तब आयेगी, जब अपने को अलग मानकर नम्र बनेंगे, सहायता ढूँढ़ेंगे और मिलने पर लेंगे। जो भिन्नता महसूस ही नहीं करता, वह अपना दोष देखेगा ही नहीं, बल्कि वह अपने दोषों को गुण ही मानता जायगा।

इसमें अपनी अशक्ति पहचानने की बात है। मैं जानता हूँ, मेरी कलाई मेरे शरीर के दूसरे भागों की अपेक्षा कमजोर है। तो मैं भारी काम, जो कलाई की शक्ति से करने पड़ते हैं, उनसे करवाऊँगा, जिनकी कलाई मजबूत है और अपनी कलाई को सुधारने का प्रयत्न करूँगा तथा अपनी उतनी मर्यादा मानूँगा। जिसका मन या बुद्धि कमजोर है, वह उसे सुधारने का प्रयत्न करेगा और तब तक जिनका मन या बुद्धि अच्छी है, उन पर विश्वास रखेगा। मुख्य बात, अलगपन महसूस करना और देह-मन-बुद्धि आदि के दोषों को दुरुस्त करना है।

आत्मचिन्तन

प्रश्न : आत्मचिन्तन यानी क्या ?

उत्तर : इस पर हमने तीन-चार दृष्टियों से सोचा है। और अनुभव भी किया है। मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था, तब बापू ने मुझे पवनार जाने के लिए कहा। उनकी बात मैंने कबूल की कि वहाँ जाकर चिन्तन और चिन्ता दोनों छोड़ दूँगा। वहाँ पहुँचते समय मैंने मन में कहा था— **'संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया।'**

वहाँ कुछ खाने के प्रयोग किये। थोड़ा घूमना आदि भी चलता था। ज्ञानदेव के भजन और एकनाथ के भजन, ये दो किताबें मैंने अपने पास रखी थीं। रोज दस-पाँच मिनट पढ़ता था। बाकी सारा समय शून्य मन। मन में कुछ भी नहीं। जागृति में भी ऐसा ही मन, जैसा गाढ़ निद्रा में होता है। सामने यह दीवार है—दीख रही है, वैसे ही सामने बच्चू बाबू बैठे हैं—वे दीख रहे हैं लेकिन चित्त पर उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं। शून्यमन ! उसका शरीर पर अच्छा असर हुआ। वजन बढ़ा। इसमें विकारों से मुक्त होना, पहला कदम है। प्रथम साधकावस्था में विकार-मुक्ति की साधना होती है। उसके बाद आत्मचिन्तन होता है। उसके बाद ही विचार-मुक्ति। 'आत्मचिन्तन' नाम देते हैं, यद्यपि उसमें मन विचार-शून्य रहता है। तो विचार-शून्य बनना यह एक प्रक्रिया हुई।

दूसरी प्रक्रिया—मन, प्राण, इन्द्रियाँ—शरीर से लेकर बुद्धि तक जो-जो भी हैं—उनके गुण भी और दोष भी—इस सबसे हम अलग हैं; यह अलगपन, पृथकत्व अनुभव करना। हम अपने से ही पृथक् हैं, चिन्तन की यह एक पॉजिटिव (विधायक) प्रक्रिया है। आत्मचिन्तन नहीं, बल्कि अनात्म-निरसन। अनात्मा से जो बचेगा, वही अपना मूल स्वरूप है, यह जानना।

तीसरी प्रक्रिया—मनुष्य में गुण और दोष, दोनों रहते हैं । मनुष्य यानी क्या ? संगम-स्थान। आत्मा और देह जुड़ा हुआ है—उपाधि के कारण, मोह के कारण, जिस किसीके कारण हो, जुड़ा हुआ है। गुण आत्मा के हैं। निर्विकारिता, धैर्य, सत्य, प्रेम—ये सब आत्मा के गुण हैं। तो दोषों को अपने से अलग रखकर अपने में कौन-सा गुण ज्यादा है, यह देखें। परमात्मा अनन्तगुणसम्पन्न है। उन्होंने अपना एक-एक गुण एक-एक को बाँट दिया है। किसीमें साहस है, किसीमें करुणा, किसीमें धैर्य, किसीमें

समत्व | किसीमें कोई एक गुण विशेष रूप से दिखाई देता है। उस गुण का विकास करते-करते उसका परमोत्कर्ष करें और उससे परमात्मा को स्पर्श करें। गुण का विकास करते-करते हम परमेश्वर तक पहुँच सकते हैं। परमेश्वर और हमारे बीच अन्तर रहेगा। पर लगभग उसके पास पहुँच सकते हैं | तो अपने में जो प्रधान गुण हैं (छोटे-मोटे गुण नहीं), उन्हें प्रथम पहचानना पड़ेगा। फिर उसका चिन्तन करना पड़ेगा।

भिन्न-भिन्न पुरुषों में भिन्न-भिन्न गुणों का उत्कर्ष दीखता है, उन गुणों का चिन्तन करें और उतना गुण ले लें। भगवान् कृष्ण में प्रेम का गुण दीखता है। रामचन्द्र में सत्य। महात्मा गांधी के जीवन में भी सत्य दीखता है। तो कृष्ण का चिन्तन यानी प्रेम-गुण का चिन्तन करें। राम यानी सत्य गुण का चिन्तन। उसी तरह सृष्टि में भी गुणों का दर्शन होता है। सृष्टि में भी प्रेम दीखता है | सृष्टि में नियमितता का भी गुण है। सूर्य, तिथि, ग्रह, चन्द्र, सारे नियमित चलते हैं । उतनी नियमितता अपने में लानी चाहिए। प्रसिद्ध दार्शनिक कांट के बारे में कहा जाता है कि उसे अपने घर पर से जाते हुए देखकर लोग अपनी घड़ी मिलाते थे।

जो गुण अपने में नहीं है, वह गुण अपने में लाने की कोशिश नहीं करनी है। अपने में जो गुण नहीं है वह जिनमें होगा, उनका आदर करना चाहिए। और उसका योग (ऐडिशन) करना चाहिए । उसके द्वारा परमेश्वर तक पहुँचना है। दूसरों के गुणों के लिए आदर बढ़ाना होगा और अपने गुणों का विकास करना होगा। दूसरे के गुण अपने में लाने की कोशिश करेंगे, तो परमेश्वर के बदले उस मनुष्य के पास ही पहुँचेंगे। दूसरों के गुणों का हमेशा आदर करना चाहिए, नहीं तो अक्सर मत्सर पैदा होता है। यह सूक्ष्म दोष है। वह न हो, इसकी सावधानी होनी चाहिए।

शून्य मन; आत्मा को अनात्मा से अलग मानना अपने गुणों के द्वारा ईश्वर के पास पहुँचना;—ये तीन रास्ते हैं । जिसको जो पकड़ में आये, वह पकड़ सकता है | तीनों भिन्न-भिन्न अवस्था में प्राप्त हो सकते हैं । [मैत्री, मार्च '६८]

४. वेदान्त और अहिंसा

दुनिया में ३०० करोड़ लोग हैं और भारत में ४५ करोड़ से ज्यादा हैं। इसका मतलब होता है कि दुनिया का सातवाँ हिस्सा भारत में है। दुनिया में अनेक मसले हैं | ज्यादातर मसले आर्थिक हैं, कुछ सामाजिक हैं। भाषा के कारण अलग-अलग गुट पड़े हैं, धर्म के कारण पड़े हैं, जाति के कारण पड़े हैं, राष्ट्र के कारण भी पड़े हैं। फिर राष्ट्र में प्रान्त बनते हैं, तो उसके कारण भेद पैदा होते हैं । फिर प्रान्त में जिले बनते हैं, तो उसके कारण भी भेद पैदा होते हैं। ऐसे नाना कारणों से दुनिया में भेद पैदा होते हैं। लेकिन एक भेद स्पष्ट है कि हम शरीर में हैं और हम दूसरे से भिन्न हैं ।

मुझे बीमारी हुई तो उसका अनुभव मैं ही कर सकता हूँ। दूसरा नहीं कर सकता | दूसरा कल्पना से करेगा और कल्पना से उसको ज्यादा दुःख भी हो सकता है। लेकिन वह मानसिक होगा। मुझे बीमारी से जो वेदनाएँ हो रही हैं, उनका अनुभव उसको नहीं आयेगा। कल मुझे अच्छी नींद आयी। उसका लाभ दूसरे को नहीं मिल सकता। इसलिए शरीर से भेद पैदा हुआ है।

हम बँधे हुए हैं

लेकिन मुख्य चीज यह है कि हम अपने शरीर में बँधे हुए हैं। फिर इस शरीर से जुड़े हुए माता-पिता, पत्नी, बाल-बच्चे मेरे हो गये, उनके साथ अपने को बाँध लिया। अपनी देह के साथ एक मित्र-मण्डल भी जुड़ा हुआ है, जिसमें मेरा जन्म हुआ है, वह भी मेरा है। तो उस जाति को मैं मेरे साथ कर लेता हूँ और बाकी को दूर करता हूँ। इस प्रकार जितने भी दुनिया के टुकड़े पड़ते हैं—धर्म, जाति, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र—सब इस एक कारण से पड़ते हैं। कहीं तरुण-संघ बना। यानी तरुण सारे एक तरफ हो गये और वृद्ध दूसरी तरफ। मैं या तो तरुण हूँ या वृद्ध हूँ। तो मैं अपने को एक वर्ग में रखूँगा। उसका मतलब यह है कि एक तरफ मैं और दूसरी तरफ कुल दुनिया। फिर उस 'मैं' के साथ मैं एक-एक को जोड़ता रहता हूँ। कल यह हो जाय कि 'मैं' के साथ पूरे विश्व को जोड़ दूँ, तो अलग बात है। लेकिन मैं मानव हूँ, तो गाय, बैल आदि जो प्राणी हैं, उनको मानव से अलग कर देता हूँ। मानव में भी मैं भारत का मानव हूँ। तो बाकी दुनिया को अलग कर दिया। इस तरह चलता है।

मैं कौन हूँ ?

'मैं' कौन हूँ, यह सवाल है ! हमारे पूर्वजों ने कह दिया—'मैं ब्रह्म हूँ।' उसमें गाय-गधे सब आ गये। यह जो व्यापक अनुभूति है—'मैं ब्रह्म हूँ', उसको वेदान्त कहते हैं । और मैं ब्रह्म हूँ, तो मेरी कोशिश होनी चाहिए कि सबके साथ समान व्यवहार करूँ। उसको अहिंसा कहते हैं। समान व्यवहार की कोशिश ही करूँगा। क्योंकि देह में हूँ, तो समान व्यवहार सम्भव नहीं होगा। भावना से समान व्यवहार होगा, लेकिन देह-विग्रह होगा। विचार है कि सबके साथ समान व्यवहार करना है। उसको अहिंसा कहते हैं।

दोनों का समन्वय हो

अहिंसा एक आचरण-पद्धति है और वेदान्त एक चिन्तन-पद्धति है। वेदान्त यानी चिन्तन क्या है, यह बताया, और अहिंसा यानी आचरण कैसे करना, यह बताया। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। आचरण की बुनियाद वेदान्त को रहेगी, और वेदान्त की बुनियाद पर मकान अहिंसा का होगा।

गाँव-गाँव में हमें यही काम करना है। गाँववालों को यही विचार समझाना है कि हम सब एक हैं। और व्यवहार में समानता की कोशिश करनी है। जब तक देह है, समान व्यवहार, पूर्ण अहिंसा तो हमसे सम्भव नहीं। लेकिन विचार है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', इसलिए समान व्यवहार की पूरी कोशिश, ज्यादा-से-ज्यादा कोशिश करनी है। ज्ञान में तो कोशिश नहीं होती। ज्ञान या तो पूरा होता है या अज्ञान होता है । लेकिन आचरण की, अहिंसा की कोशिश करनी होगी।

मैं साक्षी हूँ

'मैं ब्रह्म हूँ' यह विचार कैसे समझना ? पहले मैं ब्राह्मण हूँ, फिर मानव हूँ, फिर प्राणी हूँ, फिर पदार्थ हूँ—यह एक पद्धति है विचार समझने की। उसका कभी अन्त आयेगा नहीं और वह पूरी पड़ेगी नहीं। इसलिए वह भेद ही पैदा करेगी। तो ब्रह्म कैसे पहचानना ? यह कान है, यह नाक है, यह आँख है, यह मन है, ये इन्द्रियाँ हैं, यह बुद्धि है; और इनको पहचाननेवाला 'मैं' हूँ। यानी मैं साक्षी हूँ। मेरी घड़ी रोज दो मिनट पीछे जाती है, यह मैं जानता हूँ, तो उसको ठीक कर लेता हूँ। यानी घड़ी का मैं साक्षी हूँ। वैसे ही मन को मैं पहचानता हूँ। पहचानकर उसकी कमजोरी टालकर उसका अच्छा उपयोग करता हूँ। मैं कभी डॉक्टर के पास जाता हूँ और कहता हूँ कि मेरी बुद्धि जरा कमजोर हो रही है। मन को, बुद्धि

को कमजोर कहनेवाला कौन ? पहचाननेवाला 'मैं' अलग ही हूँ। इस प्रक्रिया से हम साक्षीरूपेण वहाँ तक पहुँच सकते हैं । यही प्रक्रिया है। अपने को इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से अलग पहचानना, अपने को अपने स्थान में पहचानना। यह है वेदान्त की प्रक्रिया साक्षीरूपेण रहने की।

जो साक्षीरूपेण रहता है, वह दो बाजू से बोलता है। एक तो वह कहता है कि 'कुल दुनिया मैं हूँ' और 'यह कुल दुनिया है ही नहीं, मैं ही हूँ।' यह है बेदान्त और अहिंसा की कोशिश । समानता की कोशिश।

अहिंसा का रहस्य

समान व्यवहार की कोशिश कैसे करेंगे ? बाबा का सबसे दु:खी अवयव कान हैं। उसके लिए सब चिन्तित हैं। शरीर में हम क्या करते हैं ? जो सबसे दु:खी अवयव होता है, उसकी सेवा प्रथम करते हैं, फिर दूसरे अवयवों की तरफ देखते हैं। पूरे शरीर का खयाल करके उसको खिलाना है, यह तो है ही। वैसे ही हमें गाँव में सबसे प्रथम, जो दु:खी हैं, उनकी सेवा करनी है। यह अहिंसा का रहस्य है।

५. आत्मज्ञान अभी परिपूर्ण नहीं

हमारे आध्यात्मिक चिन्तन में एक दोष रह गया है । महापुरुषों में कोई दोष नहीं है । उनका विचार समझने और उसे समझाकर बताने में दोष रह गया है । बहुतों की यह समझ है कि अध्यात्म-ज्ञान पूर्णता तक पहुँच गया है। अब उसमें किसी तरह की प्रगति की गुञ्जाइश नहीं रही। वेदान्त और सन्तों के अनुभवों के बीच हिन्दुस्तान में अध्यात्म-शास्त्र परिपूर्णता को प्राप्त कर चुका है। लेकिन वैज्ञानिक लोग यही कहते हैं कि विज्ञान कथमपि पूर्ण नहीं हुआ है। वे कहते हैं कि हमारी प्रगति बहुत ही अल्प, सिन्धु में बिन्दु-सी है। यद्यपि आज स्पुतनिक छोड़ा गया और चन्द्रलोक में अभियान की बातें चल रही हैं, मानव को तरह-तरह की शक्तियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं; फिर भी विज्ञानवादी यही कहते हैं कि सृष्टि का ज्ञान अनन्त है और अभी उसका एक छोटा-सा अंश भी हमारे हाथ नहीं लगा है।

अध्यात्म का दोष

इसके विपरीत अध्यात्मवादी कहते हैं कि अध्यात्म-ज्ञान पूर्ण हो चुका है। उसमें अब किसी तरह की प्रगति शेष नहीं रही। उसका अन्तिम अध्याय लिखकर 'समाप्तम्' की रेखा भी खींच दी गयी है।

अब उसमें कुछ जोड़ना बाकी नहीं रहा। किन्तु ऐसा कहना बहुत बड़ी भूल है। जिस तरह विज्ञान बढ़ रहा है, उसमें नयी-नयी खोजें हो रही हैं और भविष्य में भी होंगी, उसी तरह अध्यात्म में भी ऐसी ही खोजें होने को हैं और वह भी बढ़नेवाला है तथा आगे भी बढ़ता रहेगा। आज तक जो अध्यात्म-विद्या हमारे हाथ लगी है, वह तो अंशमात्र है। इसलिए पुराने लोगों ने जो लिख रखा है, उसे ही बार-बार पढ़ना और उसकी कथाएँ विभिन्न ढंगों से गाते रहना ठीक नहीं । कहा जाता है कि एक की गाथा पढ़ लेने के बाद दूसरी पढ़ी न जाय | उसकी जरूरत ही नहीं। आखिर ऐसा क्यों ? तो कहा जाता है कि एक गाथा में जो अनुभव है, वही अन्य गाथाओं में भी है। एक नियत अनुभव ही हर गाथा में है। फलतः अध्यात्म की कुछ भी प्रगति न हो पायी। जिसमें नये-नये शोध नहीं हुआ करते, वह विद्या कुण्ठित हो जाती है। अध्यात्म के विषय में हमारे देश में यही हुआ । वास्तव में आज तक जो विद्या हाथ लगी है, वह उतने में ही पूर्ण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अब भी अनुभव के कितने ही विषय पड़े हुए हैं।

विज्ञान के दोष अनुभव से सुधरते हैं

विज्ञान में भी कुछ दोष हुआ करते हैं। लेकिन वे अनुभव से सुधारे जाते हैं। एक जमाने में वैज्ञानिक यह मानते थे कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। वे जानते थे कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। यह कहनेवाले वैज्ञानिक भी हैं। किन्तु वे बड़ा ही सुन्दर तर्क उपस्थित करते थे। कहते थे कि "अगर पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती रहती, तो पंछी सुबह अपना घोंसला छोड़ निकलने के बाद शाम को पुनः वहाँ कैसे वापस आ पाते ? कारण तब तक तो पृथ्वी जाने कितनी दूर आगे बढ़ गयी होगी ? इसलिए सूर्य ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है।'' किन्तु बाद में उन्हें अपने इस कथन का दोष ध्यान में आ गया और उन्होंने आगे चलकर अपनी वे भूलें सुधार लीं। जो भूलें होती हैं, उन्हें सुधारना ही चाहिए। हमें अध्यात्म में नया ज्ञान प्राप्त करना है, यह तो एक अलग ही बात है। लेकिन पुराना जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसे ही पूर्ण समझ लेना यह एक बड़ी भूल रह गयी है। इसी कारण हमारे महापुरुषों का सामाजिक जीवन पर अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता।

भूलों का अर्थशास्त्र पर प्रभाव

भूलों के कारण ही अर्थशास्त्र में मानव ने संकुचित वृत्ति बना ली है। मेरा घर, मेरा खेत, मेरा धन, मेरे घर का भला, मेरे राष्ट्र का भला—इस तरह 'मेरे' से परे वह सोच ही नहीं पाता। आखिर इसका क्या परिणाम होता है ? एक व्यक्ति की सम्पन्नता दूसरे व्यक्ति के लिए बाधक हो सकती है। अगर मैं सम्पन्न होता हूँ, तो उसके विरुद्ध क्या खड़ा हो जाता है ? दूसरी की विपन्नता ! इसी तरह दूसरे की सम्पत्ति में मेरी विपत्ति भी खड़ी हो सकती है। इस तरह अर्थशास्त्र में विरोध खड़ा हो गया है। आज प्रगतिशील राष्ट्रीय अर्थशास्त्र किसे कहते हैं ? उसका स्वरूप है—दूसरे राष्ट्र का विरोध कर अपने राष्ट्र को सम्पन्न करना।

अध्यात्म में भी वही भूल

इस भूल के परिणामस्वरूप जिस तरह अर्थशास्त्र में व्यक्तिगतता और संकुचितता का उपर्युक्त दोष आ जाता है, उसी तरह परमार्थ में भी यह दोष घर कर बैठता है । 'मेरा स्वार्थ ', 'मेरा सुख' कहने में विचार-दोष होता है—दूसरों से अलगाव करना होता है। इसी तरह 'मेरी मुक्ति' यह भी आध्यात्मिक व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद है । यह दोष पुराने जमाने में भी लोगों के ध्यान में आ चुका था और प्रह्लाद ने नृसिंह के समक्ष स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया था। वह कहता है कि "बहुधा देव और मुनि अपनी ही मुक्ति की कामना करते और विजन अरण्य में मौनादि का आधार ले मुक्ति का आभासभर कर लेते हैं। लेकिन मैं इन दीन जनों को छोड़ अकेला मुक्त होना नहीं चाहता ।'' प्रह्लाद की यह आलोचना आज भी हम लोगों पर लागू हो रही है। कारण, अभी तक हमने इसमें कोई सुधार नहीं किया है । 'मेरी मुक्ति' यह कहना वदतो-व्याघात है। 'मैं' का लोप ही मुक्ति का साधन है। अगर इस साधना पर एक का ही आधिपत्य रखते हैं, तो 'मैं' दृढ़ होता है और दूसरे सभी अज्ञानी रह जाते हैं। अगर मैं यह चाहूँ कि मैं ज्ञानी बनूँ और अन्य लोग अज्ञानी ही रहें, तो मैं अपने हाथ से मुक्ति खो देता हूँ। 'मैं' मुक्ति का साधन नहीं हो सकता—बल्कि बन्धन का ही साधन होता है, यह बात अभी हम लोगों के ध्यान में नहीं आ पायी है।

सिद्धि-प्राप्ति भी एक पूँजीवाद

हमारे देश में पारमार्थिक साधना करनेवाले हमेशा कहा करते हैं कि 'अहन्ता' और 'ममता' त्याग देनी चाहिए। लेकिन वे उसके अर्थ पर ध्यान नहीं देते। महाभारत में एक पहेली बूझी गयी है : ऐसे कौन शब्द हैं, जिसके दो अक्षरों से बन्ध होता है और तीन अक्षरों से मुक्ति होती है ? उत्तर में कहा गया है कि 'मम' से बन्ध और 'न मम' से मुक्ति होती है। सारांश, 'मैं' मिटे बिना मुक्ति सम्भव नहीं । लेकिन इसके विपरीत यहाँ 'मैं' ही मजबूत किया जाता है। कुछ सिद्धियाँ हस्तगत की जाती हैं, तो वे भी हठ से ही पायी जाती हैं | यह हठ पकड़ना पैसा कमाने जैसा ही है। मानव अपनी सारी बुद्धि खर्च कर डालता है। परिश्रम करता है, परेशानी उठाता है। तब उसे 'श्री' मिलती है और वह 'श्रीमान्' या पूँजीपति बनता है। इसी तरह यह साधक भी एक तरह से पूँजीपति ही होता है। कहा जाता है कि अमुक महापुरुष को साक्षात्कार हुआ है, सिद्धि प्राप्त हो गयी है, वह त्रिकालदर्शी हो गया है। आखिर इसका मतलब क्या है ? यही न कि उनके पास सिद्धियों का खजाना है और उनके चमत्कारों से लोग उन्हें साधु समझते और उनसे अपना स्वार्थ साधना चाहते हैं । उनसे आशीर्वाद माँगते और कहते हैं कि उनके आशीर्वाद से हमारे बाल-बच्चों का कल्याण हुआ, घर सम्पन्न हुआ, उनका आशीर्वाद हमें फलीभूत हुआ | यानी वह भी स्वार्थ साधना चाहता है और लोग भी अपना स्वार्थ साधने की सोचते हैं। फलत: समाज स्वार्थरत होता है।

इस तरह हिन्दुस्तान में जो परमार्थ-साधना हुई, उसमें सूक्ष्म स्वार्थ भरा हुआ था। इसलिए वह परमार्थ की साधना ही नहीं थी। यह सच है कि पैसा कमाने के साधन से वह अधिक उच्चकोटि की रही। दर्जा ऊँचा था, पर जाति दोनों की एक ही थी। स्थूल भेद था, पर सूक्ष्म अर्थ में देखा जाय, तो भेद नहीं था। दोनों ही व्यक्तिगत ही थीं और दोनों अहन्ता और ममता को बढ़ानेवाली ही रहीं।

क्या यह निश्चित कहा जा सकता है कि देश का बड़ा नेता हुआ, तो वह पारमार्थिक दृष्टि से ऊँचा उठ गया ? नहीं, एक साधारण छोटे किसान की जैसी संकुचित बुद्धि होती है, वैसी उसकी भी हो सकती है। किसान को लगता है कि पड़ोस के खेत की हाथभर जगह मुझे मिल जाय, तो अच्छा हो और उसके लिए वह प्रयत्नशील रहता है। इसी तरह कोई राष्ट्रनेता भी यदि यह सोचने लगे कि अपने देश की सीमा थोड़ी-सी बढ़ जाय, दूसरे देश में पेट्रोल अधिक है, इसलिए वह भाग हमारे हाथ में आ जाय, तो क्या

यह पारमार्थिक विचार होगा ? जिस तरह उस किसान का विचार स्वार्थी है, उसी स्तर का स्वार्थी विचार राष्ट्रनेता का भी है। परिमाण अधिक है, पर जाति एक ही है। १/२ कहिये या १०/२०, उसमें फर्क क्या पड़ता है ? ऊपर और नीचे बड़ा आँकड़ा होने पर भी मूल्य में क्या फर्क पड़ता है ?

साधना के नाम पर स्वार्थ

जब तक साधना की गहराई हासिल नहीं होती, तब तक साधना के नाम पर स्वार्थ साधने वाले का सूक्ष्म स्वार्थ होता है। उसका पारमार्थिक मूल्य तो होता ही नहीं। समाज का उत्थान करने की सामर्थ्य भी उसमें नहीं होती और उससे व्यक्ति की उन्नति भी नहीं होती। फिर भी उसमें भी मानव को एक प्रकार का समाधान मिलता है। लेकिन वह समाधान मरणोन्मुख व्यक्ति के समाधान जैसा होता है। मरण के समय मानव देखता है कि मेरे बाल-बच्चे सुखी हैं, नौकरी-चाकरी करते हैं, तो उसे किसी तरह की वासना नहीं रह जाती और वह बड़े समाधान से मरता है। कया ऐसे व्यक्ति को मुक्त कहा जा सकता है? यदि साधक को तप से इसी तरह का समाधान प्राप्त हो, तो उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है। कारण, वह समाधान मिलने के बाद “ततः किम् ?” (आगे क्या ?) यह प्रश्न रह ही जाता है। इसलिए जब तक ‘मैं' और ‘मेरा' नहीं मिटता—फिर वह मेरा घर, मेरा खेत हो या मेरी साधना, मेरी विद्या या मेरी मुक्ति हो, सारा—एक ही कोटि का समाधान है। वह समाज का उत्थान करने में समर्थ नहीं हो सकता।

‘मैं’ की जगह ‘हम’

हिन्दुस्तान की साधना में एक बड़ी भूल रह गयी और वह यही कि 'मैं' कैसे मिटाया जाय, इस ओर हमारा ध्यान नहीं गया। इस ‘मैं’ को कैसे मिटाया जाय ? इस ‘मैं’ को 'हम' से मिटाया जाय। वस्तुतः ‘मैं’ को 'तू' से मिटाना चाहिए। ‘तू' याने परमेश्वर। लेकिन परमेश्वर उपलब्ध कहाँ है ? वह दिखाई कहाँ पड़ता है ? वैकुण्ठ के किसी कोने में जा छिपा है। उसका पता ही नहीं लग पाता। शंकर भगवान् दो-दो जगह रहते हैं। काशी में या कैलाश में ? फिर क्या वे श्रीमानों की तरह गर्मी के दिनों में कैलाश पर और जाड़ों में काशी में रहते हैं ? इस तरह हवा-फेर, तफरी करनेवाला भगवान् कहाँ दीख सकता है ? फिर भी लोग उसे ही ढूँढ़ने जाते हैं। इसलिए ईश्वर यह कोटि अव्यक्त ही है। 'मैं' चला जायगा, तब 'तू' आयेगा। ऐसी स्थिति में 'तू' ‘मैं’ को कैसे मिटा सकता है ? इसलिए यह सारा गड़बड़

घोटाला चलता है। इसलिए 'मैं' को 'हम' से मिटाना ही अच्छा होगा। यही मुक्ति अच्छी रहेगी। जब 'हमारी साधना', 'हमारी भक्ति' ऐसा बोला जायगा, तभी यह काम आसान होगा। उससे व्यक्ति और समाज दोनों का एक साथ उत्थान सधेगा। सच्चे अर्थ में वही साधना होगी। [दानोली, रत्नागिरि, महाराष्ट्र; २-४-'५८]

६. आध्यात्मिक निष्ठा

निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा

अध्यात्म मूलभूत श्रद्धा है। उसके जो कुछ अंश ध्यान में आते रहते हैं, वे यहाँ रखने की कोशिश कर रहा हूँ। एक श्रद्धा तो यह है कि पूरे जीवन के लिए निरपेक्ष नैतिक मूल्यों पर श्रद्धा (फेथ इन दी ऍब्सोल्यूट वैल्यूज) की जरूरत है । इस प्रकार के शाश्वत नैतिक मूल्यों को मानने में सब तरह से लाभ है; उसे तोड़ने में सब प्रकार से हानि है। यह श्रद्धा इसलिए कही जायगी कि आज के युग में और किसी भी काल में मानव-मन को निरपेक्ष नीति कभी जँची नहीं। हिंसा कुछ स्थानों में अनिवार्य मानी गयी थी, यह तो एक मिसाल है। ऐसे ही जो दूसरे नैतिक मूल्य शाश्वत माने जायेंगे, उनमें अपवाद निकालने की जरूरत मनुष्य को मालूम हुई। और बुद्धि से यह सिद्ध करना अशक्य हुआ कि आप सत्य पर अड़े रहिये और आपका गला रेता जा रहा है, फिर भी आप विजयी हैं। इसीलिए इसमें श्रद्धा रखने की बात आती है।

मृत्यु के बाद भी जीवन की अखण्डता

अध्यात्म-श्रद्धा का दूसरा विषय यह होगा कि मृत्यु के बाद भी जीवन है। मृत्यु से जीवन खण्डित नहीं होता। इसे जिस किसी रूप में रहना हो, यह तफसील का विषय है, बुद्धि से उसका निर्णय नहीं होनेवाला है। तफसील में विचार-भेद हो सकता है। लेकिन जीवन मृत्यु से खण्डित नहीं होता, उसके बाद भी रहता है—चाहे सूक्ष्म रूप में रहे या स्थूल में रहे, निराकार रूप में रहे या साकार रूप में, देहधारी रहे या देह-विहीन रूप में—ये छह भेद हो सकते हैं और होंगे—लेकिन जीवन अखण्ड है। जाहिर है कि यह विषय श्रद्धा का है। बुद्धि कुछ हद तक सबमें काम करेगी और फिर वह टूट जायगी। जहाँ वह टूट

जायगी, वहाँ श्रद्धा काम करेगी। इस प्रकार जिस मनुष्य में श्रद्धा नहीं है, उसे आगे का ग्रहण नहीं होगा। जहाँ तक बुद्धि की पहुँच है, वहीं तक ग्रहण होगा।

प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता

तीसरी श्रद्धा है प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता—यूनिटी एण्ड सैंक्टिटी ऑफ लाइफ । यह अंग्रेजी शब्द इसलिए कि आज अंग्रेजी की परिभाषा चलती है। शिक्षितों को समझने में मदद मिलती है—यद्यपि मुझे संस्कृत शब्दों की आदत है। प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता को जीवन में लाना अशक्य है। यद्यपि जीवन के लिए हम जन्तुओं का संहार करते हैं, असंख्य जन्तुओं का हमसे घात होता है और प्रत्यक्ष आचरण में ऊँच-नीच का भेद माना जाता है। यह सब है, लेकिन यह श्रद्धा होनी चाहिए कि प्राणिमात्र एक है और पावन है।

विश्व में व्यवस्था और बुद्धि

चौथी श्रद्धा यह है कि विश्व में व्यवस्था है अर्थात् रचना है, बुद्धि है। इतना कहने से ईश्वर की सिद्धि होती है । लेकिन उसे ईश्वर का नाम देने का आग्रह ईश्वर का अपना नहीं है, तो मेरा भी नहीं है । इसीका अर्थ होता है, परमेश्वर पर श्रद्धा। व्यवस्था है—इसका यह अर्थ नहीं कि हम-आप जो कुछ करते जाते हैं, वह सारा अपनी योजना से करते हैं। कुछ दूसरी योजना है, उसीके अनुसार सारा होता है। जेल में मैं यह बात समझाता था। वहाँ आँगन में घास का एक हिस्सा था, जिस पर लिखा था १९४५। यानी वह १९४५ में कटेगा और फिर वहाँ लिखा जायगा सन् १९४६। यह दृष्टांत देकर मैंने कहा कि उस घास में जो तिनका है, उसका अपना प्रयोजन है, लेकिन कुल मिलाकर सब तिनकों का प्रयोजन १९४५ बनाना है। वे तिनके यह जानते नहीं। तिनका आता है और जाता है, लेकिन सबका मिलकर एक प्रयोजन है कि जेल में कौन-सा साल चल रहा है, यह दिखाया जाय। इसी तरह हम भी तिनके जैसे हैं । हम जानते नहीं कि इस सृष्टि में हमारा क्या प्रयोजन है । हम अपना-अपना प्रयोजन ही देखते हैं; लेकिन कुछ और प्रयोजन है, जिसके लिए सृष्टिकर्ता ने हमें पैदा किया है । लेकिन इतना मानना बस होगा और यह पर्याप्त होगा कि विश्व में एक रचना है, व्यवस्था है और बुद्धि है।

पूर्णता का अनुभव शक्य

पाँचवीं श्रद्धा यह है कि मानव-जीबन में पूर्णता का अनुभव हो सकता है । व्यक्तिगत तौर पर हमने कई महापुरुष देखे हैं, सत्पुरुषों की संगति में रहने का अवसर हमें मिला है। फिर भी पूर्ण मानव मैंने नहीं देखा। लेकिन मानव-जीवन में पूर्णता का अनुभव हो सकता है, वह एक श्रद्धा का विषय है।

७. प्रश्नोत्तर

ईश्वर

प्रश्न : क्या भगवान् का कोई रूप है ? क्या हम भगवान् को आँखों से देख सकते हैं ?

उत्तर : बहुत बड़ा सवाल है, लेकिन उसका उत्तर सरल है। भगवान् अव्यक्त भी है, व्यक्त भी है। साकार भी है, निराकार भी है। ईश्वर है भी, नहीं भी। वह सगुण भी है, निर्गुण भी है। सब प्रकार का है। ऐसे तो जो विश्व सामने खड़ा है, वह भगवान् का रूप ही है। लेकिन हम उसको इस प्रकार से पहचानते नहीं हैं । हम अपने चर्मचक्षु से ऊपर का आकार देखते हैं, अन्तस्तत्त्व देखते नहीं। मान लीजिये, एक बारीक जन्तु मेरे नाखून पर बैठा है। उसने बाबा को छुआ तो है, लेकिन वह बाबा को जानता नहीं | नाखून को वह पहाड़ समझता होगा। वैसे हमें भगवान् का स्पर्श है, लेकिन हम भगवान् को पहचानते नहीं।

इसके अलावा, ध्यान में मनुष्य की जो वासना रहती है, तदनुसार भगवान् उसको रूप दिखा सकता है । उपासकों ने अपने चित्त की एकाग्रता के लिए और इन्द्रियों के आकर्षण से छूटने के लिए ध्यान की कल्पना की है। कोई चतुर्भुज भगवान् का, कोई कृष्ण-मूर्ति का, कोई रामचन्द्र का, कोई जीसस क्राईस्ट का ध्यान करते हैं और उस रूप में भगवान् को मानते हैं । वह तीव्र ध्यान करता हो, रात-दिन उसका चिन्तन, मनन, भावन चलता हो, तो उसके समाधान के लिए ध्यानावस्था में वह रूप लेकर भगवान् आ सकते हैं और उसको समाधान हो सकता है।

उसको भगवत् रूप का दर्शन हुआ या नहीं, इसकी दूसरों को कल्पना नहीं आ सकती। लेकिन ध्यान-समाप्ति के बाद उसका जो व्यवहार होगा, उस पर से लोगों को पता चलेगा। उसने अपनी कल्पना

का ही ईश्वर देखा है, परिपूर्ण नहीं, लेकिन उससे उसके चित्त का रूप बदल जायगा। भगवत् दर्शन पाया, उससे स्पर्शित चित्त रहेगा, तो उसके जीवन में प्रेम, करुणा देखने को मिलेगी । [मैत्री, नवम्बर '६५]

मूर्ति-पूजा

प्रश्न : निर्गुण-निराकार परमेश्वर का स्मरण करके प्रणाम किया तो वह ३३ कोटि देवताओं को पहुँचता है ? हिन्दुस्तान में इतनी सारी मूर्तियाँ और देवता क्यों मानी गयीं ? क्या उनका सचमुच अस्तित्व है ? अगर अस्तित्व है तो क्या सृष्टि में उनका अलग-अलग कार्य और अलग-अलग शक्ति होती है ?

उत्तर : ईश्वर निर्गुण-निराकार तो है ही, साथ-साथ सगुण-निराकार भी है। और आगे सगुण-साकार भी है। वह एक है, वह अनेक है, वह असंख्य है, वह अनन्त है, वह शून्य है। बाइबिल में या कुरान में जिस मूर्ति-पूजा का निषेध किया है, वह मूर्ति-पूजा सुसंस्कृत हिन्दू-समाज में प्रचलित नहीं है। परमेश्वर के अनन्त गुण हैं। एक-एक गुण को या एक-एक गुण-समूह को सूचित करनेवाली मूर्ति-उपासना यानी मूर्ति के द्वारा अमूर्त की उपासना, हिन्दू करता है। यानी मूर्ति गुण-प्रतीक है। साधकों की मुख्य साधना चित्त-शुद्धि की यानी सद्गुण-विकास की है। सद्गुण-विकास दो प्रकार से होता है :

१. अपने में जो सद्गुण है, उसका उत्कर्ष करना।

२. अपने में जिन गुणों की कमी है, उनके लिए आदर बढ़ाना।

इन दो दृष्टियों से उपासना के लिए मूर्ति चुननी है। अलग-अलग गुणों के लिए अलग-अलग-मूर्तियाँ हो सकती हैं । एक ही मूर्ति पर भी सब गुणों का आरोपण कर सकते हैं।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि मूर्ति-पूजा अनिवार्य नहीं है। परन्तु गुण-प्रतीक न्याय से मूर्ति का उपयोग कर सकते हैं।

हिन्दुस्तान में इतनी मूर्तियाँ क्यों हैं, इसका उत्तर सरल है। एक बात तो यह कि हिन्दुस्तान में ब्रह्म-विद्या का सूक्ष्म विचार हुआ। **'एकं सत् विप्रा: बहुधा वदन्ति'** यह व्यापक भारतीय विचार है। सब तरह की मनोभूमिकावाले, सब साधकों की चिन्ता करनेवाले सर्व-समावेशक धर्म में विविधता को जैसा अवकाश रहेगा, वैसे विचार में. एकनिष्ठ धर्म में रहेगा नहीं।

प्रश्न : स्वप्न में भगवान् की मूर्ति देखकर आनन्द नहीं होता—ऐसा क्यों ?

उत्तर : मूर्ति के दर्शन से अगर किसीको आनन्द न होता हो तो मूर्ति-दर्शन की जबरदस्ती उस पर नहीं है । लेकिन ऐसे मनुष्य से तुकाराम महाराज प्रश्न पूछते हैं कि **'अवघे ब्रह्म-रूप, : रिता नाहीं ठाव, प्रतिमा तो देव कैसा नव्हे**'—कुल विश्व ब्रह्म- रूप है, कोई जगह खाली नहीं है, तब मूर्ति ही भगवान् कैसे नहीं ?

प्रश्न : भक्ति-मार्ग की दिशा में पैर मुड़ जाते हैं, लेकिन अनेक मूर्तियाँ झमेला पैदा कर देती हैं । ज्ञान-मार्ग से निर्गुण-निराकार स्वरूप के साथ एकरूप होने की इच्छा होती है, लेकिन उसके लिए आवश्यक निर्विचार स्थिति दीर्घ काल तक टिकती नहीं । कर्मयोग का अवलम्बन करती हूँ, लेकिन उससे ध्यान में खलल पहुँचती है और उसके बिना आध्यात्मिक उपासना सधती नहीं। प्रकाश दीखता है, लेकिन प्रकाश के साथ एकरूपता सधती नहीं। अपने को सबसे अलग करनेवाला यह अहंकार कैसे दूर होगा ?

उत्तर : अनेक मूर्तियों की पूजा एक ही मनुष्य से कैसे हो सकती है ? जैसे एक ही मनुष्य अपने भाई की, बहन की, माँ की, बाप की इतनी अनेक मूर्तियों की सेवा कर सकता है और करता है। इस दृष्टान्त से ही समझ लें। माँ, बाप, भाई, बहन ये भी मूर्तियाँ ही हैं । **'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या:'** —ऐसा एक वाक्य गीता में आया है। यह इसको उद्देश्य करके ही है।

सगुण-निर्गुण इत्यादि भेद काल्पनिक हैं। 'घी' यह अक्षरात्मक शब्द निर्गुण है। 'घी' यह कण्ठ में से निकलनेवाली ध्वनि सगुण है। भोजन के समय परोसा हुआ गाय का स्वादिष्ट घी साकार है। लेखन में निर्गुण घी; बोलने में सगुण घी; खाने में साकार घी। जिसको जो चाहिए, सो वह ले।

कर्मयोग शब्द हम लोगों ने बहुत सरल कर डाला। फलत्यागपूर्वक अनासक्ति से निरहंकार होकर ईश्वरापर्ण–बुद्धि से जो सहज-प्राप्त सत्कर्म किया जाता है, उसके लिए कर्मयोग शब्द है। ऐसे कर्मयोग को स्वयमेव भक्ति का रूप आता है। इस तरह कर्मयोग का आचरण करनेवाला जब तक काम करता है, तब तक कर्म में बरतता है। उस कर्म का वेग उसके चित्त पर नहीं होता। इसलिए कर्म का समय

खतम होते ही, उसी क्षण वह निर्विचार होता है। कर्म करते समय वह विचार करता है, लेकिन वह केवल कर्म के साथ आया हुआ होता है। यानी वह विचार उस कर्म का अंग ही होगा। [मैत्री, मार्च '६५]

ईश्वर-प्राप्ति

प्रश्न : ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग क्या है ?

उत्तर : ईश्वर-प्राप्ति का सरल उपाय यह है कि उसकी मनुष्य को इच्छा हो। इच्छा नहीं है, तो ईश्वर-प्राप्ति सम्भव नहीं है। इच्छा है, दरवाजा खुला है, तो ईश्वर खुद प्रवेश करेगा। ईश्वर ढूँढ़ता है ऐसे मनुष्यों को, जो उसकी इच्छा करते हैं। परन्तु मनुष्य दरवाजा बन्द रखता है। ईश्वर को अन्दर आने नहीं देता। हमें ईश्वर को पाने की जितनी इच्छा है, उससे ज्यादा ईश्वर को हमारे अन्दर प्रवेश करने की इच्छा है | लेकिन हम हृदय बन्द रखते हैं | हृदय खोलने का उपाय हमने बता दिया है—सत्य, प्रेम, करुणा । [मैत्री, मार्च '६५; मैत्री, अगस्त '६६]

मन्त्र

प्रश्न : मन्त्र क्या है ? मन्त्र कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : मन्त्र मूलतः मनन के लिए होते हैं। मन्त्र में एकाध छोटा-सा शब्द होता है, जिसमें बहुत अर्थ भरा रहता है और जो मनन को मदद करता है।

मन्त्र दो-तीन प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के मन्त्र को विधि कहते हैं। वह मामूली मन्त्र होता है। जैसे उपनयन के समय गायत्री मन्त्र दिया जाता है। उसी तरह विवाह के समय भी मन्त्र दिया जाता है । संन्यास या वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा के समय भी मन्त्र प्राप्त होते हैं। ये मन्त्र निश्चित होते हैं । यानी विद्या में, गृहस्थाश्रम में या दूसरे आश्रमों में प्रवेश करने की विधियाँ निश्चित की गयी हैं। उस समय जो मन्त्र देनेवाला गुरु या पुरोहित होता है, वह निमित्तमात्र होता है । वह महाज्ञानी या अनुभवी हो, ऐसी अपेक्षा नहीं है। अच्छा हो, सदाचारी हो, इतनी इच्छा रहती है।

दूसरे प्रकार के मन्त्र को सकाम मन्त्र कहेंगे। वे भी दो प्रकार के माने गये हैं। कुछ मन्त्रों का उपयोग बुरे काम के लिए होता है। जैसे जारण-मारण मन्त्र है। ऐसे मन्त्रों को तामस मन्त्र भी कहते हैं। उनके द्वारा संहारक शक्ति प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार के सकाम मन्त्र अच्छे काम के लिए उपयोग में

आते हैं। ऐसे मन्त्र काम के साथ कुछ प्रेरणा देते रहें, ऐसी भावना से दिये जाते हैं। जैसे हमने हमारे काम के साथ 'जय जगत्' मन्त्र दे दिया, ताकि भावना रहे कि हमारा काम दुनिया को जोड़ने के लिए है। इसमें भी व्यक्तिगत सत्कामना और सामूहिक सत्कामना ऐसा भेद रहता है।

तीसरे प्रकार के जो मन्त्र हैं, वे परमात्म-ज्ञान में प्रवेश कराते हैं। उनका उद्देश्य है साधना में मदद पहुँचाना। ऐसे मन्त्र अनुभवी गुरु से ही प्राप्त होने चाहिए। वह मन्त्र गुप्त होता है। यानी व्यक्ति की प्रगति के लिए उसकी परिस्थिति को ध्यान में लेकर गुरु एक विशेष मन्त्र उसको देता है। सन्तों ने राम-कृष्ण-हरि इत्यादि व्यापक मन्त्र भी दिये हैं। जहाँ तक व्यक्तिगत मन्त्र का ताल्लुक है, साधक की शक्ति-बुद्धि ध्यान में लेकर अनुकूल मन्त्र दिया जाता है। यहाँ प्रश्न आता है कि अनुभवी योग्य गुरु न मिले, तो क्या किया जाय ? वहाँ शास्त्र के आधार से ही आगे बढ़ना होगा। शास्त्र के वचन, अच्छे ग्रन्थ बार-बार पढ़ने होंगे। यानी जप की जगह स्वाध्याय आयेगा।

चौथे प्रकार का मन्त्र सबसे महत्त्व का मन्त्र है। ऐसे मन्त्र का केवल जप ही नहीं करना होता, उसके अर्थ पर चित्त में सतत चिन्तन होना चाहिए। सिर्फ जप किया, तो उससे नुकसान नहीं, लेकिन उतना फायदा भी नहीं। असम के संत श्री शंकरदेव और माधवदेव की बात है। माधवदेव पहले शक्ति के भक्त थे। शंकरदेव ने उनको समझाया, मन्त्र दिया, तो उनकी भावना बदल गयी । यहाँ शंकरदेव का दिया हुआ मन्त्र आध्यात्मिक था। वह माधवदेव के लिए ही था। वह क्या था, जाहिर नहीं । लेकिन मान सकते हैं कि उन्होंने माधवदेव को जड़ पकड़ने को सिखाया। जड़ को पानी देते हैं, तो पत्र-पुष्प आदि सबको मिल जाता है।

इस प्रकार का मन्त्र किसी प्रकार के बन्धन में नहीं डालता। मन्त्र देने के बाद गुरु भी स्वतन्त्र है, शिष्य भी स्वतन्त्र है। शिष्य की स्वतन्त्रता में और बुद्धि-विकास में वह बाधा नहीं डालता। मन्त्र की ही आवश्यकता है, ऐसी बात नहीं है। बहुत मिसालें ऐसी मिल सकती हैं, जहाँ मोक्षदाता गुरु ने स्पर्शादि द्वारा ही मदद की होगी। लेकिन मुझे इस प्रकार तत्काल मोक्ष दिलानेवाला गुरु मिले, तो उसमें रुचि नहीं होगी। मुक्ति की भी एक प्रक्रिया है और साधक को उस प्रक्रिया में से जाना चाहिए। मोक्ष की फिक्र छोड़कर साधना-पथ पर चलेगा, तो मोक्ष उसके पास सहज ही आयेगा—जैसे दिल्ली के मार्ग पर चलने से दिल्ली पहुँचेंगे ही। स्पर्शादि से दीक्षा देना असम्भव नहीं है, परन्तु मैं उसको पसन्द नहीं करता। अपने

लिए भी पसन्द नहीं करता; साधक की दृष्टि से कोई पूछे, तो भी मैं कहूँगा कि वह लाभदायक नहीं है। गफलत से कोई मुक्ति में चला जाय, तो वह कोई ठीक बात होगी ?

गुरु

प्रश्न : मन्त्रदाता गुरु कौन है ? गुरु-शिष्य-सम्बन्ध क्या है ?

उत्तर : गुरु का मुख्य अर्थ है दृष्टिदाता। इस जमाने में कुछ लोग गुरु शब्द के पीछे पड़े हैं । वे गुरु कहना या कहलाना पसन्द नहीं करते । यह बात ठीक है कि दुनिया में ढोंगी गुरु भी हो सकते हैं। लेकिन उनको हम क्यों कंडेम (अप्रतिष्ठित) करें ? बे सेल्फ कंडेम्ड (स्वयं अप्रतिष्ठित) हैं। लेकिन आजकल एक भाषा बन गयी है कि किसीको गुरु नहीं मानना चाहिए, शिष्य नहीं बनना चाहिए आदि। इसमें गुरुभाव छोड़कर मित्रभाव पसन्द करें, यही वृत्ति है और मैं मित्रभाव को सबसे बढ़कर मानता हूँ। लेकिन गुरु-शिष्य-भाव को भी मानता हूँ। मैंने मेरी अपनी मर्यादा मान रखी है कि न मैं किसीका शिष्य बनूँ, न किसीको शिष्य बनाऊँ। कोई मुझे लिखता है कि फलाने महात्मा के स्पर्श से हममें एकदम परिवर्तन हुआ, परन्तु हम उनको गुरु वगैरह नहीं मानते। वह तो केवल एक नयी भाषा हुई। जहाँ स्पर्श आदि के प्रभाव को आपने मान्यता दी, वहाँ वह गुरु-शिष्य की श्रद्धा ही कही जायगी। पुराने जमाने में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बहुत मान्य था। ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी में सब जगह गुरु-महिमा गायी है । ज्ञानदेव ने गुरु को सर्वस्व अर्पण किया था और भाषा भी कैसी लिखते हैं—**'निवृत्ति गुरु माझा अन्धपण फेडिलो'**—(निवृत्ति गुरु ने मेरा अन्धत्व मिटा दिया) । परन्तु मेरा चित्त कुछ ऐसा बना है कि मैं प्रभावादि की बात पसन्द नहीं करता। पुरानी बात है। उन दिनों महादेवभाई का सिर बहुत दुखता था। मेरा भी थोड़ा दुखता था। हमारे एक मित्र बाबाजी मोघे भी वहाँ थे। उन्होंने कहा कि सिर दुखने पर मेरे पास एक औषधि है, लेकिन वह औषधि एक मन्त्र के साथ ही दी जा सकती है। महादेवभाई को तब 'यंग इंडिया' का बहुत काम रहता था, इसलिए बहुत परेशान थे। वे औषधि लेने के लिए तैयार हो गये। बाबाजी ने ताम्बूल के एक पत्ते पर कुछ लकीर खींचकर पान बनाकर खाने को दिया। महादेवभाई ने खाया और उनका सिर दुखना बन्द हो गया, वे काम कर सके। बाबाजी ने यह बात मुझे बतायी और औषधि लेने को सुझाया। मैंने कहा, रोग-दुरुस्ती के लिए पान चबाकर देख सकता हूँ, परन्तु लकीर खींचने की जो बात है, वह नहीं मान सकता। मैं मन्त्र को ढोंग नहीं मानता। मानता हूँ कि मन्त्र में सामर्थ्य

होती है। लेकिन मैं उससे रोग दुरुस्त करना नहीं चाहूँगा। नहीं तो रोग आयेगा और ज्ञान दिये बिना चला जायगा। उससे बुद्धि पर प्रहार होता है।

मैं स्पर्श की सामर्थ्य को मानता हूँ । माँ के स्पर्श का असर बच्चे पर होता है। क्योंकि बच्चे की माँ के ऊपर पूरी श्रद्धा होती है। उसके लिए माँ से बढ़कर दुनिया में कोई चीज नहीं है। और माँ को बच्चे के प्रति प्रेम होता है। तो अन्योन्य श्रद्धा और प्रेम के कारण स्पर्शमात्र से काम होता है। वैसी असीम शक्ति ज्ञानी पुरुषों में भी हो सकती है और उससे परिवर्तन आ सकता है।

परन्तु उपनिषद् में दिशा दिखानेवाले गुरु की बात कही है। एक धनवान् जंगल में जाता है। कुछ चोर उसकी आँखें और हाथ बाँधकर उसके पैसे चुरा लेते हैं। वह चिल्लाता है : "अरे! मुझे चोरों ने लूट लिया रे" वहाँ एक सज्जन आता है और उसकी आँखें खोल देता है। मुसाफिर पूछता है गंधार देश कहाँ है ? तो सज्जन जवाब देता है : **'एतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति'**—गन्धार देश इस दिशा में है, इस दिशा में जाओ। मुसाफिर निकल पड़ता है। फिर उपनिषद् कहता है : **'स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेव उपसम्पद्येत'**—इस ग्राम से उस ग्राम, इस तरह 'पण्डितों से पूछते-पूछते वह गन्धार देश पहुँच गया। तो गुरु को यही काम करना है—दिखाना है। नामघोषा में गाया है :

हरि-भक्ति-राजमार्गे
गुरु-पद-नखचन्द्र-प्रकाशित
श्रुति- जननीर
पद-पथ अनुसरि

गुरु चन्द्र के समान ऊपर है। उनके नखचन्द्र ने थोड़ा-सा प्रकाश दे दिया है। चलने का रास्ता भी गुरु ने नहीं बताया, श्रुति ने बताया है। गुरु के केवल नख का ही प्रकाश मिल रहा है। अब—

फुरो हुया आमि आनन्दित
स्खलन नाहिके कदाचित
महाजनसब जानिबा निछय करि॥

हे महाजन लोगो ! जान लो कि अब हमारे लिए कोई स्खलन नहीं। हम निर्भयता से आनन्द में घूम रहे हैं। तुलसीदासजी ने भी गाया है :

श्रीगुरुपद-नख-मनिगण-ज्योती
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती। [मैत्री, अक्तूबर '६६]

दुनिया में गुरु कहाँ ढूँढ़ें ? भागवत में अवधूत के चौबीस गुरु की बात है। उनमें से एक गुरु शरीर बताया है। क्योंकि वह विरक्ति और विवेक सिखाता है। कैसे विरक्ति सिखाता है ? कैसे विवेक सिखाता है ? **'सततात्युदर्कम्'**— कुछ-न-कुछ तकलीफ देता है। इस बात के साथ कौन सहमत नहीं होगा, मालूम नहीं। इसलिए विरक्ति होती है। तकलीफ दे-देकर वह मुझे विरक्ति सिखाता है। लेकिन अवधूत कहते हैं कि उसके आधार से मैं **'तत्त्वान्यनेन विमृशामि'** तत्त्व का विमर्श करता हूँ, इसलिए उसकी कौमत है। गुजराती में कहावत है—**'दूझणी गाय पाटु मारे'**—दूध देती है और साथ-साथ लात भी मारती है। वैसे शरीर लात मारता है, लेकिन दूध भी देता है। इसके आधार से तत्त्व-विमर्श होता है। मनुष्य-देह की कीमत है।

एक जगह शंकराचार्य ने मनुष्य-देह की महिमा बतायी, पशु-देह के साथ तुलना करके। पशु-देह के लिए कहा : **'स्वतनोरपि अज्ञाने परमार्थस्य का वार्ता ?'** अपने तनु का भी ज्ञान नहीं, वह परमात्मा की क्या बात करेगा ? बैल अपनी देह की अनाटोमी जानता नहीं। मनुष्य को इतना ज्ञान विज्ञान के कारण हुआ है, लेकिन फिर भी चक्कर आता है, तो क्यों आता है ? चक्कर बाबा को और पूछे डॉक्टर को। कितनी बेवकूफी ! फिर वह मुझसे पूछता है कि कैसे होता है, क्या होता है। मैं कहता हूँ : "तुम डॉक्टर हो, मुझसे क्यों पूछते हो ?'' वह कहता है : "तुम रोगी हो, मुझसे क्यों पूछते हो ?'' मैं उसको ज्ञानी समझता हूँ और उसके पास जाता हूँ । वह मुझे ज्ञानी समझता है और मेरे पास आता है। मेरे जवाब से उसको ज्ञान होता है और उसके कहने से मुझे ज्ञान होता है। बहुत से मनुष्यों को अपने शरीर का ज्ञान नहीं होता। शंकराचार्य ने बहुतों को पशु-कोटि में डाला। तो मनुष्य-देह में यह शक्ति है कि उसके आधार से तत्त्व-विमर्श हो सके। इसलिए इस देह की मैं कदर करता हूँ। और रोज वह तकलीफ देता है तो समझता हूँ कि वैराग्य मिलता है—लाभ ही लाभ है । [मैत्री, जून '६५]

३. साधना

१. साधना-विचार

'साधना' गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अपना शब्द है। पुराने ग्रन्थों में खोजते हैं, तो साधना शब्द नहीं मिलता है| पुराना शब्द 'साधन' है। 'साध्यम्', 'साधनम्' आदि प्रयोग मिलते हैं, आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द नहीं | यह कवि की विशेषता है कि वे नये-नये शब्द देते हैं। आज यह शब्द सारे भारत में चलता है।

'साधना' शब्द में क्या-क्या आता है ? इसके उत्तर में यह पूछना पड़ता है कि साधना में क्या-क्या नहीं आता ? जो कुछ आता है, वह सब मिलकर 'साधना' बनती है। यह एक गोल शब्द है। भक्ति, ध्यान, कर्म, योग जैसे अनेक नामों का समावेश 'साधना' में होता है। [काकट्वीप, २४ परगना, प० बंगाल; २३-५-'६३]

अन्तर्निरीक्षण

मनुष्य के जीने की क्रिया कितनी भी परिशुद्ध क्यों न हो, उसमें कुछ कर्म सम्बन्ध रहता है। कुछ विचार करने ही पड़ते हैं और कुछ विकार भी होते ही हैं| 'विकार' शब्द से बुरा ही अर्थ मानने का कोई कारण नहीं है। बे बुरे होते हैं, गलत होते हैं; लेकिन अच्छे भी हो सकते हैं | जीवन में ये सब चीजें निहित हैं । जहाँ हम अन्दर की बात खोजने के लिए बैठते हैं, वहाँ ये सब चीजें बाहरी माननी चाहिए; यहाँ तक कि विचार भी | इनसे अपने को अलग करने की शक्ति होनी चाहिए। यही ब्रह्म-विद्या का आरम्भ है। सर्वथा विचार-मुक्ति, विकार-मुक्ति, अभिलषित हो, तो भी देह के रहते वह प्राप्त नहीं होगी। इसलिए यह त्रिवर्ग हमारा चिर-साथी है, यह समझकर ही सोचना चाहिए। लेकिन खास काम के लिए, याने अन्दर गोता लगाने के लिए तीनों को अलग करने की शक्ति होनी चाहिए।

क्रम-विचार

अध्यात्म-शास्त्र में भी क्रम है, ऐसी अपेक्षा रखी जाती है। परन्तु कौन प्राणी कहाँ से आया, कहाँ उसका जन्म हुआ, यह किसे मालूम है ? मैं अमुक को पन्द्रह साल से जानता हूँ। वह चालीस साल का है। उसके कुछ पुराने संस्कार हैं, जो वह खुद नहीं जानता। तो उसे मैं कोई क्रम कैसे बताऊँ ? लेकिन

मैं भी तो एक क्रम में ही आया हूँ। इसलिए किसीका क्रम हम तय करें, यह लगभग असम्भव है। दिशा तय हो सकती है, उसका विचार करें। वह एक बहुत बड़ी चीज हो जाती है, हमारे मानस पर उस दिशा का असर होता है।

क्रम-विवेक

अगर हम बहुत-सा कर्म छोड़कर साधना में लग जाते हैं, तो उससे तमोगुण और जड़ता आ सकती है। अन्दर से विषय-विकार भी बढ़ सकते हैं। अगर कर्ममय साधन लेते हैं, तो उसमें रजोगुण का खतरा रहता है। इस तरह दोनों बाजू खतरा पड़ा है। निश्चय नहीं कर सकते कि कौन-सा खतरा ज्यादा अच्छा है। जहाँ प्रवृत्ति बढ़ी हुई है, वहाँ तमोगुणी साधन कम खतरेवाला माना जायगा, जैसे इंग्लैण्ड में। लेकिन भारत में तमोगुण ही प्रधान है। वहाँ रजोगुण को अवकाश देनेवाला साधना-क्रम कम खतरनाक माना जायगा।

ब्रह्म-विद्या में आनेवालों को अब तक वे जो कुछ पढ़ चुके हों और जो संस्कार लिए हों, उनसे मुक्त हो जाना चाहिए, ताकि यह विद्या हासिल हो | यह विचार हमें दिशा दिखाता है। हर रोज मैं उपनिषद् गाता हूँ, उसका बड़ा उपकार है । उसमें ज्ञान और अज्ञान दोनों के लाभ बताये गये हैं और दोनों के दोष भी | इसलिए उनसे परे हो जाना है। [कामरूप, प० बंगाल; २९-६-'६२ से ४-७-'६२]

ईशावास्योपनिषद् में विद्या शब्द का प्रयोग आत्मज्ञान के अर्थ में नहीं किया है। लोग मानते हैं कि विद्या हर हालत में उत्तम वस्तु है। लेकिन आत्मज्ञान को अलग करके विद्या उत्तम वस्तु नहीं साबित होगी। वैसे मनुष्य को विद्या और अविद्या दोनों की जरूरत है। दुनिया में हजारों प्रकार के शास्त्र हैं और हजारों प्रकार का ज्ञान है। उन सबकी प्राप्ति में आप पड़ेंगे, तो आपसे कोई काम नहीं होगा। इसलिए उन हजारों विषयों के बारे में आपको अज्ञान ही चाहिए। हर ज्ञान हासिल करना ठीक नहीं है। स्वधर्माचरण के लिए जिस ज्ञान की जरूरत है, वही प्राप्त किया जाय। स्वधर्माचरण के लिए जिस ज्ञान की कतई जरूरत नहीं है, जिससे बुद्धिभेद होता है, उस ज्ञान का चित्त पर बोझ नहीं डालना चाहिए। उसकी अविद्या ही रहने दी जाय। इस तरह विद्या, अविद्या दोनों चाहिए और तीसरा है आत्मज्ञान, जो परम साध्य है।

अनावश्यक ज्ञान न हो, तो चित्त पर बोझ नहीं होता। उससे शरीर में जो प्राणशक्ति है, उसका क्षय नहीं होगा, उपयोग होगा। लेकिन जो ज्ञान जरूरी है, वह न हो, तो मनुष्य अंधकार में जायगा। इससे उलटे हम हजारों प्रकार के ज्ञान में पड़ेंगे, तो उससे भी अधिक घोर आँधेरे में जायेंगे। आज के शिक्षितों की यही हालत है। इस ग्रंथकार ने यह लिखा है, उस ग्रंथकार ने वह लिखा है, यह सब वे याद रखते हैं। अर्जुन की यही हालत हो गयी थी। इसलिए भगवान् ने उससे कहा : ''तूने शास्त्र बहुत पढ़ लिये हैं। तू श्रुतिविप्रतिपन्नमति हो गया है। तूने बहुत सुन लिया है। उस श्रवण से तू मुक्त होगा, तब तेरी प्रज्ञा स्थिर होगी।" इसलिए समझना चाहिए कि विद्या और अविद्या दोनों चाहिए।

एक मनुष्य के पास विद्या है, लेकिन आत्मज्ञान नहीं है, तो उस विद्या का अहंकार पैदा होगा और वह मनुष्य घोर अँधेरे में प्रवेश करेगा। दुनिया में हम बहुत-से लोग ऐसे देखते हैं, जो विद्वान् हैं और उसका उन्हें अहंकार भी है। अज्ञानी मनुष्य भी अन्धकार में जाता है। लेकिन ऐसा विद्वान् और अधिक घोर अन्धकार में जाता है। एक मनुष्य ज्यादा ऊँचा चढ़ा और वहाँ से गिरा तो, उसे बहुत तकलीफ होगी। दूसरा मनुष्य उतनी ऊँचाई पर नहीं चढ़ा और गिरा तो उतनी तकलीफ नहीं होगी। वह विद्वान् बना यानी ऊँचाई से गिरा। इसलिए विद्या और अविद्या, इन दोनों से भिन्न जो आत्मज्ञान है, उसकी ओर मनुष्य का ध्यान होना चाहिए। [मैत्री, जुलाई '६०]

मुक्त-चित्त

कई चैतसिक शक्तियाँ हैं; उनसे भी परे हो जाना हैं। सबसे बड़ी आध्यात्मिक वस्तु यह मानी जायगी कि जैसे हम घड़ी से भिन्न हैं, वैसे ही चैतसिक शक्तियों से भी बिल्कुल भिन्न हैं, यह महसूस करें। मान लीजिये घड़ी का उपयोग है, इसलिए घड़ी की तरफ ध्यान दिया और उसका उपयोग किया। घड़ी पैदा की तो अच्छा काम किया, दुनिया के लिए उपयोगी काम ही किया, लेकिन कोई आध्यात्मिक कार्य किया, ऐसा नहीं माना जाता। इसी तरह चैतसिक शक्तियों के बारे में सोचना है । उनका कुछ सदुपयोग किया जाता है तो कुछ दुरुपयोग भी; जैसे विज्ञान के भी दोनों उपयोग हो सकते हैं। वैज्ञानिक जो खोज करते हैं; वह एक उपयोगी काम है; लेकिन यह नहीं कहा जायगा कि वे कोई आध्यात्मिक विषय होते हैं। इसी तरह चैतसिक शक्तियों कि बात है। वह खोज है और निःसंशय विज्ञान का एक

विषय है। जीवन की उपयुक्तता के अलावा जैसे विज्ञान के प्रयोग किये जाते हैं और कुछ तरीके ध्यान में आते हैं, वैसे ही इसमें भी प्रयोग किये जाते हैं और तरीके ध्यान में आते हैं।

अब कोई इसका विज्ञान बनाये और खोज-प्रयोग करे तो करे; लेकिन यह पक्का ध्यान में रखें कि उसका अध्यात्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

मृत्यु-साधना

एक वैदिक मन्त्र है—**'तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तो। वितत संजभार'**—वह सूर्य की महिमा है और वही उसका देवत्व है। सूर्य की दिव्यता इसीमें है कि दिन में उसने जो किरण-जाल फैलाया, उसे शाम के समय समेट ले। काम चलते-चलते बीच में ही उसे बन्द कर दे। घोड़ा दौड़ रहा है; दौड़ते-दौड़ते वह एकदम रुक गया। इस तरह की जो सूर्य की शक्ति है, उसका दर्शन शाम को होता है। ऋषि उसकी प्रशंसा करते हैं। यह शक्ति परमात्मा रोज दिखा रहा है। हमारे मन में वासनाएँ और विचार हैं, वे दौड़ते रहते हैं। फिर भी नींद आ ही जाती है। अपनी इच्छा से नींद लेना बहुत बड़ी बात है—**'स्वापन: स्ववशोव्यापि।'** अपने को सुलानेवाली शक्ति हममें नहीं है। वैसे आलस में सोना अलग बात है, लेकिन कुल विचार एक क्षण में रोककर जिस क्षण चाहे सो जाना कोई मामूली बात नहीं है। 'अब मैं सो जाता हूँ' यह कहकर सो जाना बड़ी बात है। उसका अभ्यास करने का मौका रोज भगवान् हमें देता है। मृत्यु के समय भी सारा समेटना होता है। तब मन, बुद्धि, प्रज्ञा, वासना आदि सबके सब अपने साथ लेकर स्थूल को छोड़कर आत्मा चला जाता है| वह अपने साथ जो ले जाता है, वह वस्तु इतनी सूक्ष्म है कि आँखों से देखी नहीं जाती। उस समय शरीर गिर जाता है, क्योंकि उसको धारण करनेवाली जो शक्तियाँ थीं, उन सबको लेकर वह शरीर को छोड़कर चला जाता है। जो गया; उसे नहीं देखा, जो शक्तियाँ लेकर गया, उसे भी नहीं देखा। लोगों ने तो उस शरीर को देखा, जो पड़ा है। उसीको आसपास के लोग देखते हैं। जान-बूझकर, सोच-विचारकर इच्छा के मुताबिक सोना अभ्यास का विषय है। ऐसे ही मृत्यु के पहले यानी हमेशा जीवन में कोई नहीं कह सकता कि हम दो-चार साल बाद यह करेंगे, क्योंकि मृत्यु का क्षण निश्चित नहीं है। इसलिए मृत्यु के पहले यानी प्रतिक्षण मृतवत् जीना यानी अपने को अन्दर समेटे हुए जीना बहुत बड़ी चीज है।

नामघोषा में एक पद्य है : **'जिजने एकान्तत चित्ते माधवक भजि निते। फुरे माधवर गुण गाइ'**—भक्त एकान्त चित्त से भगवान् के गुण गाता हुआ फिर रहा है। वह फिरता भी रहता है और चित्त को एकान्त में भी रखता है। यह अभ्यास की बात है।

हम इस शरीर से अलग हैं, यह पहचानना है। जहाँ आप शरीर से अलग हो जाते हैं, एकदम सारी सृष्टि और समाज में घुल-मिल जाते हैं। यह अभ्यास का विषय है, जो हम रोज कर सकते हैं। सोने से पहले मृत्यु का अभ्यास करना चाहिए। ऐसे ही काम करते-करते इन सब कामों में चित्त को अलग रखने का अभ्यास करना चाहिए । यह कहने-सुनने आदि से प्राप्त नहीं होगा। इस दिशा में चित्त को गति देनी होगी।

निवृत्त-चित्त

चित्त को निर्लिप्त रखने की चेष्टा करनी होगी। सतत जागरूकता रहे और उसकी चेष्टामात्र ही हो। वह चेष्टा क्रिया न बने। यह एक स्थिति है कि जहाँ क्रिया आयेगी, वहाँ वृत्ति आयेगी। लेकिन हम चाहते हैं कि वृत्ति न रहे, स्थिति रहे । मैं मनुष्य हूँ, इसका हमें जप नहीं करना पड़ता। वह सहज याद है। यद्यपि वह याद भी नींद में नहीं रहती और न मृत्यु में ही रहनेवाली है, इसलिए वह भी मनुष्य की बहुत मूलभूत स्थिति है, ऐसा नहीं है। लेकिन निरन्तर अभ्यास के कारण मनुष्य के लिए मानवता स्वाभाविक हो गयी है। उसे बार-बार याद नहीं करना पड़ता। वह चित्त पर बोझ नहीं है, लेकिन उसके सिवा सब चीजें चित्त पर बोझ हो जाती हैं।

अज्ञान का ज्ञान

मनुष्य के लिए वाणी ईश्वर की देन है। वाणी और भाषा में फर्क है। मनुष्यों की वाणी एक है, जैसे पक्षियों की। भिन्न-भिन्न जाति के पशुओं की एक-एक वाणी है, वैसे ही अपनी भी एक वाणी है। लेकिन भाषाएँ अनेक हैं। भाषाएँ माता-पिता और समाज की देन है, परन्तु वाणी ईश्वर की देन है। वाणी भी आत्मा पर एक अध्यास है। उपनिषदों में कहा है—**'तमभित आह जानासि माम् जानासि माम्'**—जो परमात्मा के पास जा रहा है, उसके आसपास के लोग उसे देखते हैं और जान लेते हैं कि अब अन्तिम घड़ी आयी है, यह जा रहा है। तो माँ आकर उससे पूछती है कि 'मैं कौन हूँ, तुम जानते हो

?' बाप भी यही पूछता है। उसने जवाब दिया तो वे समझते हैं कि वह है; मगर जवाब नहीं दिया तो समझते हैं कि नहीं है।

'यावत् न वाक् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्, तावत् जानाति'—(जब तक उसकी वाणी मन में लीन नहीं हुई, उसका मन बुद्धि में लीन नहीं हुआ, उसकी बुद्धि प्राणों में लीन नहीं हुई और प्राण परमात्मा में लीन नहीं हुए, तब तक वह जानता है।) वाणी का मन में, मन का बुद्धि में, बुद्धि का प्राण में, प्राण का परमात्मा में लीन होना—यह एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया जैसे निद्रा में होती है, वैसे ही मृत्यु में होती है। यह बहुत बड़ा पवित्र अज्ञान है। इसका ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। आत्मा ज्ञानी नहीं है, ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानी तो आत्मा से भिन्न है, इसलिए वह आत्मा नहीं है, बुद्धि है। इसीलिए यह प्रक्रिया होती है और लोग मरनेवाले से पूछते हैं—**'जानासि माम् जानासि माम्।'** आत्मा पर जो व्यर्थ के अध्यास होते हैं, वे चले जाते हैं। सबसे ऊपर का अध्यास पहले हटता है, उससे गहरा उसके बाद हटता है और सबसे गहरा और बाद में हटता है।

चित्त को अलग रखना सहज स्थिति है। इसमें कोई अध्यास का विषय नहीं है। यह सध जाय, तो चित्त में प्रसन्नता का झरना बहने लगता है। फिर आनन्द ही आनन्द रहता है। उसके कारण बुद्धि में समता रहती है।

बहुत महत्त्व का एक सवाल पूछा गया है कि अतीत के भार से चित्त मुक्त हुए बिना विश्व-शान्ति आदि विचार कल्पनामात्र ही होंगे, उसके लिए क्या उपाय किया जाय ?

मैं मानता हूँ कि हमारे चित्त पर अतीत का भार न हो। परन्तु उसको काटने की आवश्यकता नहीं है। अतीत का हम पर उपकार है। हमारी जो भाषा है, वह अतीत ने बनायी है और हमारे सिर पर उसका ऋण है। जब हम चिन्तन करने बैठते हैं, तब हमारे चिन्तन में कितने नये शब्द आते हैं, इसका अगर हम खयाल करें तो गत सौ साल में बने हुए कोई पाँच-पचीस नये शब्द हैं, परन्तु नये होकर भी वे शब्द नये नहीं हैं। मिसाल के तौर पर सत्याग्रह शब्द लीजिये। सत्याग्रह शब्द नया है। परन्तु इसमें सत्य और आग्रह दोनों शब्द पुराने ही हैं। इसलिए सत्याग्रह शब्द भी पुराना ही है। सर्वोदय शब्द भी पुराना है और साम्ययोग भी पुराना ही है। नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं, ऐसी बात नहीं। दो शब्दों का मिलकर समास बनता

है। समास भले ही नया बनाया हो, परन्तु शब्द पुराने ही होंगे। विज्ञान की बात अलग है। वहाँ नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं, क्योंकि वहाँ पदार्थ नये होते हैं | परन्तु मानसिक सृष्टि में हमारे पास चिन्तन के लिए पर्याप्त शब्द हैं । इसलिए अतीत के भार से मुक्त होने का अर्थ इतना ही करना होगा कि हमें नये प्रयोगों की लब्धि हुई।

मूल धन हमारे पास है। इसलिए पुराने ग्रन्थ-सम्भार हमें पढ़ने की जरूरत नहीं। हम-आप मूर्तिमन्त वेद ही हैं। हमें जन्म देकर वह सफल हो गया। जैसे फल की निर्मिति से बीज सफल होता है । इसलिए अब हमें वेदों को देखते रहने की आवश्यकता नहीं है। हमारी बुद्धि सहजता से हमें जो प्रेरणा देती है, उसे शुभ मानकर चलना चाहिए। पुरानी शुभाशुभ कल्पना के बन्धन में फँसेंगे, तो वह बोझ होगा। हमारे पास शब्द हैं। पुरानी कल्पनाओं की हमें जरूरत नहीं | शब्द न होते, तो दिक्कत होती, प्रगति में बाधाएँ आ जातीं | शब्द होने के कारण प्रगति में बाधा नहीं, परन्तु हम शब्द का प्रयोग ग्रन्थ के आधार से करते हैं, इसलिए शब्द का अर्थ मर्यादित हो जाता है। ऐसा न करें। वे शब्द हमारी मिलकियत हैं । उन्हें हम अर्थ देते हैं । वे शब्द मेरी स्वतन्त्रता को काटते नहीं, मदद करते हैं। अगर कोई व्यक्ति प्रयत्न करे और पुराने शब्द इस्तेमाल न करने का निश्चय करे, तो वह समाप्त है। उससे तो विचारों का आदान-प्रदान ही बन्द हो जायगा। इसलिए हमें क्या करना है, इसका भान हमें चाहिए।

हम कौरव-पाण्डवों की कथाएँ पढ़ते हैं। द्रौपदी पाँच पाण्डवों की पत्नी थी और महान् सती थी, ऐसा भी पढ़ते हैं। परन्तु आज हमें ऐसी प्रेरणा नहीं होती कि स्त्री के पाँच पति हों। द्रौपदी के प्रति पूरा आदर होते हुए भी यह प्रेरणा नहीं होती। धर्मराज द्यूत खेलते-खेलते सब हार चुके, वन में गये, अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया—ये बातें हम जानते हैं, परन्तु द्यूत खेलना अच्छा नहीं मानते। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरानी कल्पनाओं का बहुत-सा बोझ हमने पटक दिया है। ऐसे तो अभी भी काफी शेष है। परन्तु बोझ पटकने की यह प्रक्रिया नित्य चलती ही रहेगी। सारा का सारा पुराना बोझ खतम हुआ, ऐसा दिन कभी आयेगा नहीं । पुराना जा रहा है, नया आ रहा है, ऐसी प्रक्रिया सतत चलती रहेगी।

मुख्य देखने की बात तो यह है कि मन मुक्त है या नहीं । साम्प्रदायिक मन बद्ध होता है, असाम्प्रदायिक मन स्वैर | स्वैर मम और बद्ध मन इन दोनों से भिन्न मुक्त मन है। मुक्त मन को स्वैर मन समझने की भूल न हो। मैं जब मुक्त मन के बारे में सोचता हूँ, तब एक ओर से पुराने नीति-बन्धन और

दूसरी ओर से स्वैर वर्तन—दोनों के बारे में सोचता हूँ । पुराने नीति-नियमों से मन जकड़ जाता, उसी तरह स्वैर वर्तन से भी जकड़ जाता है । स्वैर वर्तन में स्वतंत्रता का भास होता है, परन्तु वह नहीं होती। अक्सर लोग कहते हैं कि हम हमारे मन के मुताबिक चलते हैं । इसका अर्थ यही हुआ कि हम अपने नौकर की आज्ञा के अनुसार चलते हैं। इसमें कौन-सी स्वतन्त्रता रही ? वह तो मन का गुलाम बना। मुक्त मन यानी मन की मुक्ति। मुक्त मन केवल शब्द है। क्योंकि संकल्प-विकल्प छोड़ने के बाद मन ही नहीं रहा। अंग्रेजी का 'माइण्ड' शब्द यहाँ नहीं चल सकेगा, उसके नोटेशन दूसरे हैं। मुक्त मन यानी मन से मुक्ति।

चिन्तन करते समय चित्त कहाँ-कहाँ जाता है यह देखेंगे, तो बड़ा लुफ्त आयेगा। आदत के अनुसार वह कैसे सैर करता रहता है, वह देखना चाहिए। अपने बारे में मेरा अनुभव है कि जब मैं प्रयत्नपूर्वक ध्यान देता हूँ, तभी व्यवहार में आता हूँ। एकाग्रता के लिए मुझे परिश्रम नहीं करना पड़ता है, अनेकाग्रता के लिए करना पड़ता है। मैं कहीं तो भी था, वहाँ से खींचकर अपने को मुझे व्यवहार में लाना पड़ा। ऐसी मेरी स्थिति है। चिन्तन के लिए सहजता से बैठता हूँ, तब मन रहता ही नहीं। बस, मैं ही रहता हूँ। इससे भी ठीक अभिव्यक्त करना हो, तो 'मैं' को छोड़कर केवल 'होता' हूँ। 'मैं' यानी विशिष्ट । वह विशिष्टावस्था तब नहीं रहती। खुले आकाश-सी स्थिति होती है। मुक्त मन को मैं खाली आकाश की उपमा देता हूँ। बाहर से व्यापक, अन्दर से शून्य। उससे लिप्तता है ही नहीं। बारिश आती है, परन्तु आकाश उससे लिप्त नहीं होता। बादल आयें-जायें, धूल आये-जाये, हवा आये-जाये—सबके लिए वहाँ अवकाश है। सतत आना-जाना जारी है। परन्तु आना-जाना होने पर भी मुझे उसका स्पर्श नहीं होता। ऐसी जो मन की स्थिति, वह है मुक्त मन की स्थिति। कुल दुनिया की एकदम ऐसी स्थिति होगी, ऐसी अपेक्षा नहीं है। परन्तु उस दिशा की ओर समाज जाय, जा रहा है, इतना ही देखना है।

इसके लिए क्या करना होगा ? मनुष्य अपना अहं भूल जाय और घर में बरतता है, वैसा बरते। घर में आसक्ति भी होती है और सहज प्रेम भी होता है। उसमें से आसक्ति छोड़ दें और प्रेम रहने दें, तो कुल दुनिया हमारा घर हो जायगी। कुल दुनिया को घर बनाने की प्रक्रिया बढ़ाते चले जायँ। इसीलिए मैं ग्रामदान आदि बातें करता हूँ। ग्रामदान मेरे लिए स्थूल वस्तु नहीं। ग्रामदान का विचार अगर ग्रहण हुआ, तो फार्मल ग्रामदान होना ही चाहिए, ऐसा मेरा आग्रह नहीं होगा। मुख्य बात यह है कि हम सुख-दुःख

में सहयोगी हैं, किसी अकेले को दुःख नहीं भोगने देंगे। व्यापकत्व प्रक्रिया मूर्तरूप हो—केवल इसीलिए यह कार्य है। **प्रेमळांचे सांकड आमुच्या घरीं**— हमारे घर में प्रेमी जनों की बहुत कमी है। इसलिए एक भी प्रेमी भक्त निकला, तो वह प्राणों से भी अधिक प्रिय है, ऐसा भगवान् ने कह रखा है।

दुनिया में प्रेम दीखता है, परन्तु वह निर्गन्ध प्रेम नहीं। उस प्रेम की गंध है। निर्गन्ध प्रेम का आनन्द तो न्यारा ही है। बहुत से लोग नाम-स्मरण करते हैं। उसमें उत्साह होता है, परन्तु उससे थकान भी आती है। मैं कहना चाहता हूँ कि नामस्मरण एक ऐसा साधन है कि उससे सारी थकान मिट जाती है। आप नामस्मरण करते हैं और उससे थकान आती है, तो वह थकान लानेवाली क्रिया हुई, वह नामस्मरण नहीं है। नामस्मरण थकान दूर करने का साधन है। अन्य नामस्मरण को मैं नामस्मरण नहीं मानता। वैसे ही अभी दुनिया में जो प्रेम चलता है, उसे मैं प्रेम मानता ही नहीं।

बाह्य समाज-रचना आडम्बर-युक्त है और कांप्लेक्स (जटिल) है। उससे मस्तिष्क थकता है। उससे जीवन को ग्लानि आती है। इसलिए बाह्य समाज-रचना सुधारने का प्रयत्न है और अन्तर से भी सुधारनी है। पुराने लोग महान् थे। परन्तु आप भी कम नहीं हैं। आप तो उनके कन्धों पर बैठे हैं। आपको तो यह बहुत बड़ा लाभ है। आपकी लम्बाई कम है, परन्तु पुराने इतिहासों को पाँव के नीचे रखकर, उस पर आप खड़े हैं।

आपको लब्धि नहीं करनी है। लब्धि करने की बात सिर पर रहेगी, तो लब्धि दूर रहेगी। यात्री क्या करते हैं ? भगवान् के दर्शन के लिए काशी जाते हैं। यानी भगवान् नजदीक था, उसको दूर ढकेला और फिर दर्शन के लिए वहाँ चले। फिर काशी पहुँचते-पहुँचते ही भगवान् को अमरनाथ ढकेल देंगे और कहेंगे कि हम यात्रा के लिए अमरनाथ जा रहे हैं। भगवान् को आगे-आगे धकेलने की यह क्रिया भगवत्-दर्शन के खिलाफ है। वह बन्द होनी चाहिए। यह तो मैंने एक मिसाल दे दी। परन्तु इस तरह जो क्रियाएँ चलती हैं, वे साधना नहीं हैं। वहाँ साधना केवल शब्द ही है। क्योंकि साधना के निमित्त से अपने नजदीक की चीज हम खुद दूर ढकेल देते हैं। महाराष्ट्र के सन्त रामदास स्वामी ने कहा है—**'बहुता दिसा आपली भेंट झाली'**। आज तक दुनियाभर की मुलाकात लेता रहा, आज अपनी मुलाकात हुई। यह जो 'अपनी भेंट' है, उसीके लिए अगर खटपट शुरू हुई, तो हम कहाँ के रहे ? मेरे भाई बालकोबा ने एक बार मुझे लिखा कि नींद नहीं आती, बहुत प्रयत्न करता हूँ, परन्तु नहीं आती। तब मैंने उसको लिखा कि प्रयत्न

ही नींद के खिलाफ है। वैसे ही बहुत-सी साधनाएँ मनुष्य को एक चक्र में से दूसरे चक्र में डालनेवाली हैं। संसार-चक्र छोड़ने के बाद साधना का चक्र पीछे लगता है। संसार लोहे की जंजीर है। लोहे की जंजीर छोड़कर सोने की जंजीर पहन ली। वह सोने की है, इतना ही समाधान है । परन्तु बोझ में वह कम नहीं है। इसलिए साधना भ्रमात्मक है । [मैत्री, जून '६५]

२. चित्त-शोधन

चित्त-स्थैर्य

प्रश्न : चित्त को किसी विषय से हटाना यह कैसे सधेगा ? अभ्यास से या भीतरी समझ से ?

उत्तर : दोनों का विषय है। अभ्यास का भी है और भीतरी समझ का भी है। इसलिए गीता में बुद्धि और धृति, दोनों का उल्लेख आता है। बुद्धि यानी समझ और धृति यानी अभ्यास। लेकिन इन दोनों से भिन्न तीसरी वस्तु भी चाहिए। वह कौन सी ? **'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'**—प्रसन्न चित्त। जहाँ चित्त प्रसन्न है, वहाँ बुद्धि स्थिर होने में मुश्किल नहीं। अभ्यास से जब चाहे तब वहाँ से चित्त हटा सकते हैं। यानी चित्त पर किसी चीज का असर ही नहीं होगा। जैसे कोई चीज खोल दी और फिर से बन्द कर दी, वैसे चिन्तन शुरू करो और बन्द करो। आश्रम में इसका अभ्यास घण्टी से होता है। अब, अभी यहाँ चर्चा में कितना भी रस आता हो, प्रेस काम शुरू होने की घण्टी हुई तो, चर्चा को अलग रखना है। इसलिए अभ्यास का भी विषय है और भीतर समझ का भी विषय है।

प्रश्न : चित्त की एकाग्रता कैसे सधेगी ?

उत्तर : चित्त की एकाग्रता बहुत बड़ी बात नहीं, चित्त की सावधानता बड़ी बात है। अनेकाग्रता भी एक शक्ति है। आप चूल्हे के पास बैठे हैं, रोटी बना रहे हैं तब रोटी बेलना, सेंकना इत्यादि एक से अधिक क्रियाओं की ओर ध्यान देना पड़ता है। वहाँ एकाग्रता के बजाय तीन-चार चीजों पर एकदम ध्यान देना पड़ेगा। यह एक शक्ति है, वैसे ही एकाग्रता एक शक्ति है। वह आध्यात्मिक वस्तु नहीं है। लेकिन हमेशा चित्त सावधान है यानी अपने स्थान पर है ऐसा होना चाहिए। आपसे बात कर रहे हैं, तो भी मजाल नहीं कि चित्त में कोई विकार आये। जोरों से उत्तर देने का या प्रहार करने का मौका आया तो भी अन्दर की बैठक ऐसी होनी चाहिए कि वहाँ कोई ऊर्मि नहीं है।

एकाग्रता की अपनी कीमत है। लेकिन चौबीसों घण्टे जो चीज जरूरी है, वह है सावधानता। हम पर हमला न हो, हम गाफिल न रहें, यह है सावधानता।

यह कार्य राम-नाम से भी सधता है। और तभी सधता है, जब पूरी श्रद्धा है। अधूरी श्रद्धा से नहीं। नाम-श्रद्धा छोड़ दें और चित्त की सावधानता अपने पुरुषार्थ से करना चाहें, तो उसमें पूर्व-स्मृतियाँ बाधक हो सकती हैं। स्मृतियों को छोड़ना आवश्यक है। फिर तरह-तरह का ज्ञान होता है। वह भी उपाधि बनता है। उसमें से मुक्त होना भी जरूरी है। इसीसे सावधानता सधेगी।

प्रश्न : चित्त की स्थिरता किस प्रकार प्राप्त करनी चाहिए ?

उत्तर : चित्त में स्थिरता तब आती है, जब चित्त निर्मल होता है। जब तक चित्त का मैल पूरा धोया नहीं जाता, तब तक उसमें अशान्ति रहेगी। इसलिए वह कभी यहाँ जायगा, कभी वहाँ जायगा, इधर-उधर दौड़ता रहेगा। मनुष्य को आज की स्थिति में समाधान न हो, तो वह दूसरी स्थिति में जाने का प्रयत्न करेगा। वहाँ भी समाधान नहीं रहा, तो तीसरी स्थिति में जाने को यत्नशील रहेगा। इस तरह से समाधान को वह बाहर ढूँढ़ेगा। दु:ख तो चित्त में मैल होने के कारण होता है। दु:ख का यह असली कारण वह पहचानता नहीं और समाधान को बाहर ढूँढ़ता है । परन्तु चित्त के समाधान का कारण परिस्थिति नहीं, चित्त की प्रसन्नता है। चित्त प्रसन्न होता है, तो सहज शान्ति उपलब्ध होती है। गीता में कहा ही है:

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि: पर्यवतिष्ठते

यदि चित्त निर्मल हो, तो वह सहज ही स्थिर रहता है। चित्त के समाधान का यह मूल उपाय न करके और तरह से उसको स्थिर करने की चेष्टा हम करें, तो वह अधिक दौड़ेगा। क्योंकि 'प्रेशर' (दबाव) के कारण जोरों से 'रिएक्शन' (प्रतिक्रिया) होगा। सार यह कि मनुष्य की समस्या निर्मलता प्राप्त करने की है।

चित्त के मैल अनेक प्रकार के होते हैं। सफेद रंग के कपड़े पर काले रंग का धब्बा पड़ा, तो ही वह मैला कहा जायगा, ऐसा नहीं। लाल-पीले रंग के दाग हों तो भी मैला ही कहा जायगा। कई लोग उसे रंग कहकर, कपड़े पर लाल-पीले पट्टे बनाकर जिस तरह खुश होते हैं, उसी तरह अपने चित्त पर

भी कुछ रंग चढ़ाना उन्हें अच्छा लगता है। वह रंग देखकर वे खुश हो जाते हैं | यह जो खुशी है, वह भी मलिनता है। यह समझने की बात है। बच्चे ने परीक्षा पास कर ली, तो वह खुश हो गया। यह भी मैल है। क्योंकि इसका अर्थ यह हुआ कि अगर वह नापास होता, तो दुःखी होता। इस तरह अनेक प्रकार के मैल को मनुष्य रंग नाम देता है और पसन्द करता है।

मैं कई बार उदाहरण देता हूँ—खुशबू और बदबू का। वास्तव में दोनों नुकसानकारक हैं। मगर लोगों की नाक कभी खुशबू की शिकायत नहीं करती। सिर्फ बदबू की शिकायत करती है । लेकिन मेरी नाक ऐसी बनी है कि वह खुशबू की शिकायत करती है। नाक में जब सुगन्ध जाती है, तब उसके असर से दिमाग शून्य बनता है । क्लोरोफार्म क्या है ? एक प्रकार की गन्ध है। वह मगज को शून्य बना देती है। तो सुगन्ध एक प्रकार का माइल्ड (हलका) क्लोरोफार्म है। किसी भी प्रकार की गन्ध से मगज का सोचने का माद्दा कम हो जाता है। इसलिए खुशबू भी न हो और बदबू भी न हो। बिल्कुल साफ हो। हम जब पीरपंजाल गये थे, तब वहाँ पहाड़ पर कोई पेड़ वगैरह नहीं था। बरफ ही बरफ थी। तो वहाँ न खुशबू थी, न बदबू। वहाँ ध्यान करते समय अत्यन्त प्रसन्नता लगी । मान लीजिये, हम बगीचे में होते, उतना साफ वातावरण न मिलता। बुद्धि में ताजगी तब आती है, जब वातावरण बिल्कुल साफ होता है।

मैं कहता था कि कभी रँगा हुआ मन है, तो उससे मनुष्य रंगमय दीखता है और कुछ खुश भी दीखता है । लेकिन वह रंग जरा कम हो जाय तो खुशी टिकेगी नहीं। इसलिए हमें जो मन चाहिए, उसमें मैल भी नहीं होना चाहिए, रंग भी नहीं होना चाहिए। यह ठीक है कि बिना मैल का मन प्राप्त करना मुश्किल है । काम-क्रोधादि विकार न आयें, उस स्थिति पर पहुँचना कठिन प्रक्रिया है, यद्यपि कठिन है, फिर भी वही करने लायक है। मनुष्य-जन्म की सार्थकता इसीमें है कि जो कठिन है, उसको भी कर ले। किसी पुण्यकार्य का, सत्कार्य का, धर्मकार्य का भी चित्त पर प्रभाव न हो और किसी भी चीज के अभाव में चित्त दुःखी न बने—यह रंगहीनता की स्थिति है। अब पुण्यकार्यों से भी चित्त मुक्त हो, यह तो बहुत कठिन बात है। खैर, चित्त पर वैसे रंग हों, तो फिलहाल हम उनको छोड़ दें। पहले इतना तो करें कि जिसको हम खुद भी गंदगी समझते हैं, उतना तो पोंछ डालें ।

सार यह कि स्थिरता-स्थिरता कहने से चित्त की स्थिरता पकड़ में आनेवाली नहीं है, जब तक वह स्वच्छ नहीं होगा। स्वच्छ होने के बाद अन्दर से ही उसको शान्ति मिलेगी। इधर-उधर दौड़ने की इच्छा ही नहीं होगी। [मैत्री, दिसम्बर '६६]

चित्त-शुद्धि

प्रश्न : चित्त-शुद्धि कैसे होगी ?

उत्तर : चित्त-शुद्धि के प्रयत्न दो प्रकार से होते हैं। पहला प्रकार है चित्त में जो मल दीखता होगा, उसे धो डालना। एक बार धो डालें; दुबारा दीखा, तो दुबारा धो डालें; तीसरी बार दीखा, तो तीसरी बार धो डालें। चित्त में क्या मल है, उसका निरीक्षण करके एक-एक मल को धो डालें। दूसरा प्रकार यह है कि उस चित्त को ही फाड़ डालें। कपड़ा एक जगह फटा, उसको सी लिया, दूसरी जगह फटा, उसको सी लिया—यह एक रास्ता है। और कपड़ा पटक ही दिया, यह दूसरा रास्ता है। यह एक है योग और दूसरा है संन्यास।

परमात्मा का यह उपकार है कि पुराने जन्म की कुछ भी याद नहीं रहती। लेकिन मान लीजिये, अगर पुराने १०-२० जन्मों की याद रहती और हर जन्म में चित्त ने क्या-क्या गलत काम किये हैं, वे सारे-के-सारे अगर आँखों के सामने होते, तो वह बड़ा भयंकर दृश्य हो जाता। इसलिए हम करें यह कि अभी तक हमारा जो चित्त था—वह बुरा ही था ऐसी बात नहीं, वह बुरा भी था, अच्छा भी था। वह हम फाड़ ही डालें। तो सारा समाप्तम्। एक-एक बात याद कर-करके एक-एक को धोते जाओ, और उतने में दूसरा कुछ याद आता है, फिर उसे भी धोओ—यह सब करने के बजाय चित्त ही फाड़ डालें, तो सब खतम हो जायगा।

अगर किसीका शरीर बीमार हो या बोझीला हो, तो उसे दुरुस्त करने के लिए भी शरीर से अलग होना पड़ता है। चरखा स्वयं चरखे को कैसे दुरुस्त कर सकेगा ? अगर मैं शरीर ही हूँ, तो शरीर को कैसे दुरुस्त कर सकूँगा ? अगर मैं मन ही हूँ, तो मन को कैसे दुरुस्त कर सकूँगा ? मन को दुरुस्त करने के लिए ही मन से अलग होना पड़ता है। और जहाँ आप मन से अलग हुए, वहाँ अलग होनेभर से ही वह दुरुस्त हो जाता है। फिर वह दुनिया का हिस्सा बन जाता है, अपना नहीं रहता है। व्यक्ति से कुछ पुण्य-

कार्य भी होते हैं और कुछ पाप-कार्य भी। वह दोनों से अलग हो जाता है, तो मुक्त हो जाता है। लेकिन व्यक्ति ऐसा नहीं करता। वह बार-बार याद किया करता है कि 'मैं खराब हूँ,' 'मैंने गलत काम किया है।' वास्तव में यह मिथ्या आक्षेप है। इसीलिए शास्त्रकारों ने संन्यास की विधि बतायी है। संन्यास का अर्थ है पुराना सब फाड़ डालना। यहाँ तक कि संन्यास के बाद नाम भी बदल डालते हैं। तो पहले जो था, उसने जो कुछ किया हो, वह सब खतम हुआ। उसके न कोई बाप हैं, न कोई माँ। क्योंकि जिसके पिता-माता थे, वह मर ही गया। अब जानकारी कौन रखेगा ?

दोष-निरसन

अक्सर लोग पूछते हैं कि काम-क्रोध-मत्सर आदि कैसे मिटेंगे ? बात ऐसी है कि ये सारे चित्त में रहते हैं। इसलिए उस चित्त को ही पटक दो। मैं अपने चित्त का साक्षी हूँ। इसलिए जैसे दूसरों के चित्त के साथ मेरा कोई ताल्लुक नहीं, वैसे इस चित्त के साथ भी कोई ताल्लुक नहीं है। दूसरा कोई गुस्सा करता है, तो मुझे ज्ञान होता है कि यह ठीक काम नहीं हुआ। क्योंकि मैं उसके चित्त का साक्षी हूँ। उसी तरह मैं गुस्सा करूँ, तो मुझे ज्ञान होगा कि ठीक काम नहीं हुआ, क्योंकि मैं इस चित्त का भी साक्षी हूँ। मुश्किल मामला वहाँ होता है, जहाँ इसका भान ही नहीं है कि वह हिंसा कर रहा है। वह तो मानता है कि मैं भोजन के लिए प्राणियों को खा रहा हूँ। जिस क्षण उसे मालूम होगा कि मुझसे हिंसा हो रही है, उसी क्षण, एकदम वह शाकाहारी बनेगा। अगर हम अपने चित्त के साक्षी बनते हैं, तो साक्षी भी हम और चित्त भी हम, यह हो नहीं सकता। हम चित्त हैं, तो साक्षित्व रह नहीं सकता। इसलिए चित्त के साक्षी बनने के लिए उससे अलग होना पड़ता है, जिसे भान ही नहीं है, उसे लोग लाख कहें कि तुमने गलत काम किया है, वह नहीं मानेगा। लेकिन जिसे भान हो गया, वह चित्त से अलग हो जाता है और वह फिर चित्त को फाड़ डालता है। फिर आगे उससे बड़ी गलतियाँ होंगी ही नहीं । छोटी-छोटी गलतियाँ हो सकती हैं, जो देह के साथ होती हैं। लेकिन निरन्तर वह भान रहा, तो कोई बड़ी गलती नहीं होगी। [मैत्री, अक्तूबर '६७]

चित्त-निरोध

प्रश्न : चित्त-वृत्ति-निरोध कैसे सधेगा ?

उत्तर : चित्त-वृत्ति-निरोध आसान बात नहीं है। कुछ देर तक चित्त-वृत्ति-निरोध रहा, इतने से चित्त-वृत्ति-निरोध नहीं होता।

'स्थितप्रज्ञ दर्शन' में इस विषय का विवेचन किया है। वहाँ ध्यान-समाधि और ज्ञान-समाधि में भेद बताया है।

एकाग्रता ध्यान-समाधि का साधन है। एकाग्रता के बाद अनेक सीढ़ियाँ हैं और बाद में ध्यान-समाधि आती है। उसका चित्त-वृत्ति-निरोध के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। पतंजलि ने कहा है :

'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधिप्रज्ञापूर्वक: योग:'

श्रद्धा, वीर्य और स्मृति यानी आत्मस्मृति होगी, तब समाधि आयेगी। उसके बाद प्रज्ञा और बाद में योग। निषेधक भाषा में कहा, **'चित्त-वृत्ति-निरोध:'** और विधायक भाषा में **'स्व-स्वरूपे अवस्थानम्।'** यह कठिन काम है। शायद अनेक जन्मों का सवाल है। अनेक लोगों से मेरा परिचय है, लेकिन कहना पड़ेगा कि जिसे पूर्ण योग सधा हो, ऐसा मनुष्य मेरे देखने में नहीं आया।

पंचविध वृत्ति बन्द करना यानी क्या ? पंचविध वृत्ति में प्रमाण, विकल्प, निद्रा, स्मृति और विपर्यय आते हैं। तो क्या निद्रा बन्द कर सकते हैं ? विकल्प बन्द कर सकते हैं ? किताब पढ़ने में विकल्प की आवश्यकता होती है। 'गा' 'य'—इन दो अक्षरों से आप 'गाय' पहचानते हैं । मैंने आपको 'चीनी भेज दीजिये' ऐसी चिट्ठी लिखी, तो आप चीनी नाम का पदार्थ भेज देंगे। 'ची-नी' ऐसे दो अक्षर भेजेंगे नहीं। यही योगशास्त्रीय परिभाषा में 'विकल्प' है । उसके बिना व्यवहार नहीं हो सकता। तो वृत्तियों में 'प्रमाण' हमेशा अच्छा है। 'विकल्प' अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है। 'निद्रा' आवश्यक है, पर परिमित चाहिए। 'स्मृति' अच्छी हो सकती है, बुरी भी हो सकती है। 'विपर्यय' हमेशा बुरा है। इन सब भली-बुरी वृत्तियों का निरोध यानी योग । मतलब यह है कि उस-उस समय ये वृत्तियाँ होंगी और फिर भी अन्तःस्थिति में बाधा नहीं आयेगी । ऐसी जो अचल दशा है, वह 'योग' है। योग सहज स्थिति है और समाधि एक वृत्ति है। वह कई दिन लगातार भी रह सकती है। लेकिन उसकी उतनी आवश्यकता नहीं है।

ऐसे तो ध्यान-समाधि इष्ट है। उसके सिवा महत्त्व के काम हो नहीं सकते। उपनिषद् में कहा है :

'ये इह मनुष्याणां महत्तां प्राभुवन्ति, ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति'।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि ध्यान या समाधि की योग के लिए अनिवार्य आवश्यकता नहीं है।

जिस काम में एकाग्रता की आवश्यकता है, उसमें जिम्मेवार व्यक्ति एकाग्र होता ही है। उस समय भी चित्त इधर-उधर दौड़ने लगा तो वह गलत है। अन्यथा देखना आँखों का धर्म है, उसी तरह अवलोकन चित्त का धर्म है।

लोगों का ख्याल है कि ध्यान-समाधि आध्यात्मिक वस्तु है। लेकिन ऐसा नहीं। वह भी एक शक्ति है, जैसे कर्म करना एक शक्ति है। अच्छा कर्म किया तो अच्छा परिणाम आयेगा और खराब किया तो खराब। उसी तरह ध्यान का भी है। रावण ध्यानी था। उसकी समाधि लगती थी और उससे वह दूसरों को ठगने कि योजना भी करता था। यह शक्ति विज्ञान की तरह नैतिक नहीं, अनैतिक नहीं, निनैतिक है। इस शक्ति के पीछे लगे हुए लोग अध्यात्म के साधक हैं, ऐसा नहीं।

अध्यात्म की ओर विज्ञान की कसौटी क्या है ? जिस चीज का सदुपयोग और दुरूपयोग दोनों हो सकते हैं, वह विज्ञान। जिस चीज का सदुपयोग ही होता है, दुरुपयोग हो ही नहीं सकता, वह अध्यात्म। [मैत्री, अक्तूबर '६४]

चित्त-प्रसाद

एक बहन के प्रश्न के उत्तर में मैंने लिखा था कि दुःख मिट जायेंगे और चित्त प्रसन्न होगा, यह ख्याल गलत है। चित्त प्रसन्न होता है, तब दुःख मिट जाता है। चित्त की प्रसन्नता कोई बाहरी कार्यक्रम पर निर्भर नहीं है। अगर बाहर के किसी कार्यक्रम पर चित्त की प्रसन्नता निर्भर हो तो कार्यक्रम बदल जायगा, तो प्रसन्नता खतम होगी। यानी वह अपने हाथ की चीज नहीं रही। इसलिए प्रथम यह ध्यान में आना चाहिए कि अपनी प्रसन्नता के लिए हम बाह्य परिस्थितिवश हैं या उस विषय में स्वावलम्बी हैं।

त्रिविध परावलम्बन

परावलम्बन तीन प्रकार से हो सकता है—परिस्थिति-अवलम्बन, समाज-अवलम्बन और कार्यक्रम-अवलम्बन। कुछ परिस्थिति पर आधार होता है। बारिश अच्छी आयी, फसल अच्छी आयी तो हम खुश हैं। बारिश अच्छी नहीं आयी, फसल अच्छी नहीं आयी, तो दुःखी हैं। यह परिस्थिति पर

अवलम्बन हुआ। फिर जिस समाज में हम दु:खी हैं, उस समाज पर हमारी प्रसन्नता का आधार रहता है। अगर सामनेवाला चिढ़ गया तो हम भी चिढ़ गये। अगर वह हमारी सेवा करता है, तो हम खुश हैं। नहीं करता है तो नाराज हैं। यह हुआ समाजावलम्बन। तीसरा प्रकार है कार्यक्रमावलम्बन। कोई एक प्रणाली है, तो प्रसन्नता है। उसमें फरक पड़ता है तो प्रसन्नता नहीं। हम सब एक जगह रहते हैं, जीवन एक ढंग से चलता है, तो आनन्द है। कार्यक्रम बदल जाय तो मनुष्य के चित्त की व्यवस्था में गड़बड़ हो गयी। इस प्रकार से तीन अवलम्बनों पर आधार रहता है। तीनों अच्छे रहें, तो प्रसन्नता है।

जब चाहे तब खोलो किवरवा

लेकिन दोनों अच्छे रहने पर भी अगर चित्त में विकार हो तो मनुष्य प्रसन्न नहीं रहेगा। इससे उलटे तीनों प्रतिकूल रहने पर भी अगर चित्त में निर्विकारता है तो मनुष्य प्रसन्न रहेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि बाहर की तीनों चीजें अच्छीं न बनायें। बाहर के तीनों अवलम्बन विरोधी रहने दिये जायँ और चित्त की प्रसन्नता की कसौटी करें, यह जरूरी नहीं है। बाहर की तीनों चीजें अनुकूल बनाने की कोशिश हम करें। लेकिन कोशिश करने पर भी वे सौ फीसदी अनुकूल होंगी, उसके बाद मैं चित्त प्रसन्न करूँगा, यह रहेगा तो चित्त कभी प्रसन्न रहेगा नहीं। क्योंकि वे तीनों चीजें सौ फीसदी अनुकूल बनें, यह कम सम्भव है। और अनुकूल बनने पर भी चित्त का विकार कायम रहे तो अनुकूलता में भी अप्रसन्नता रहेगी। इसलिए प्रसन्नता हमारे हाथ में रहनी चाहिए। उसमें स्वावलम्बी बनना चाहिए। **'जब चाहे तब खोलो किवरवा।'** हमारे हाथ में ताला-कुंजी है। जब चाहे तब खोलते हैं । हम आत्मनिर्भर हैं।

बुनियाद—आत्मनिर्भरता

शब्द तो खूब इस्तेमाल कर दिया—आत्मनिर्भर ! हिन्दी में आजकल जितना स्वावलम्बन शब्द चलता है, उससे भी ज्यादा यह शब्द चलता है। शब्द तो बोल दिया, लेकिन आत्मनिर्भर यानी आत्मा पर निर्भर। बहुत बड़ा शब्द है। और ठीक शब्द है। हमें आत्मनिर्भर बनना चाहिए। तब प्रसन्नता का झरना बहता रहेगा।[६१]

देहभाव

प्रश्न : देहभाव कैसे मिटेगा ?

उत्तर : बाइबिल में ईसामसीह का एक वाक्य है : 'हमें परमात्मा के लिए नपुंसक बनना है। मैंने इस पर सोचा, तो मुझे लगा कि स्त्री, पुरुष या नपुंसक भेद देह के साथ जुड़े हुए हैं । स्त्री, पुरुष और नपुंसक, तीनों से हम भिन्न हैं। अगर दुनिया में स्त्री और पुरुष ये दो ही जमातें होतीं, तो स्त्री और पुरुष से भिन्न कहकर नपुंसक बनने की बात हो सकती थी। लेकिन नपुंसक भी एक जमात है। हम देह से भी भिन्न हैं, इसलिए उन तीनों से भिन्न हैं । ब्रह्मविद्या का आरम्भ ही यह है कि 'मैं देह नहीं हूँ।' बहुत से लोग समझते हैं कि देहभाव के मिटने से ब्रह्मविद्या की समाप्ति है, लेकिन वह गलत है। वह तो ब्रह्मविद्या की शुरुआत है। ब्रह्मविद्या की समाप्ति बहुत दूर की बात है।

जब हम कहते हैं कि ब्रह्मविद्या स्त्रियों के हाथ में आनी चाहिए, तब वह एक सामाजिक भाषा है। लेकिन किसी स्त्री को यह अभिमान हो जाय कि मैं ब्रह्मविद्या की आचार्या बनूँगी, तो आरम्भ में ही सारा शून्य हो गया। बात ऐसी है कि आज तक स्त्री पुरुष की आसक्ति का विषय बनी थी और पुरुष की विरक्ति का विषय भी स्त्री ही बनी थी। किसी संन्यासी ने स्त्री की आसक्ति छोड़ी, तो उतने से ब्रह्मविद्या नहीं हो सकती। आसक्ति और विरक्ति दोनों छोड़नी चाहिए। अन्यथा वह 'ऐण्टी' (प्रतिक्रियारूप) आसक्ति होगी। 'ऐण्टी' में वे सारे दोष होते हैं, जो मूल में होते हैं। आसक्ति की प्रतिक्रियारूप जो विरक्ति है, वह आज तक की ब्रह्मविद्या में भरी पड़ी है।

एक प्रसिद्ध कहानी है। मीराबाई मथुरा गयी थी। वहाँ एक साधु के दर्शन के लिए उसके आश्रम के पास गयी, तब उसे जवाब मिला कि संन्यासी स्त्री का दर्शन नहीं करना चाहते। उस पर मीराबाई ने उसे ऐसा डाँटा है—**'हूँ तो जाणती हती जे व्रजमां पुरुष छे एक, व्रजमां रहीने पुरुष रह्या, भलो तमारो विवेक।'** मैं तो समझती थी कि इस व्रज-भूमि में एक ही पुरुष है—भगवान् कृष्ण, और कोई पुरुष नहीं है। जब आप इस व्रज में रहकर भी पुरुष बने रहे हैं, तब आपने अपना विवेक सिद्ध कर दिया। मीराबाई की फटकार सुनकर संन्यासी बाहर आया और उसने मीराबाई से क्षमा माँगी । लेकिन उस बेचारे ने जो किया था, अपनी रक्षा के लिए किया था। रक्षा के लिए नियम बनाये थे।

मेरा मानना है कि इस प्रकार की ब्रह्मविद्या, जो इस आधार पर बनी है, कमजोर बनी है ! ब्रह्मविद्या की जो असली शक्ति है, वह इसीलिए प्रकट नहीं हो सकी थी। समाज डरपोक था, वैसे ही

ब्रह्मविद्या भी डरपोक थी। जो स्त्री या पुरुष ब्रह्मविद्या में प्रवेश करना चाहता होगा, उसे प्रथम इसका निराकरण करना होगा कि 'मैं स्त्री हूँ' या 'पुरुष हूँ'। उसे समझना होगा कि मैं देह नहीं हूँ।

जब तक हम देह-भिन्नता का विचार नहीं करते हैं, तब तक मेरी निगाह में हम विचार ही नहीं करते। विचार का आरम्भ तभी होता है, जब हम देह-भिन्नता का विचार शुरू करते हैं। अगर मैं मानता हूँ कि मैं देह हूँ, तो उसका मतलब यह हुआ कि मैं विचार ही नहीं करता हूँ। मेरा ख्याल है कि कोई भी शेर विचार नहीं करता होगा, सिवा इसके कि खाना कैसे मिलेगा, विषय-वासना की पूर्ति कैसे हो और कोई डर हो, तो उससे कैसे बचें। क्या कोई शेर साहित्य, धर्म, आत्मोन्नति का विचार करता होगा ? शास्त्रों के आधार पर मैंने मान लिया है कि कभी दुःख होने पर वह पश्चात्ताप करता होगा। शायद वह सोचता होगा कि मैंने सबकी दुश्मनी की, किसीकी मदद नहीं की, इसलिए कोई मेरी मदद नहीं कर रहा है। आखिरी दिनों में जब बूढ़ा हो जाता है, तब वह तड़प-तड़पकर मरता है। ज्ञानदेव ने इसका वर्णन किया है कि बुढ़ापे में वह अपने हाथ को काटकर ही खाता है। उस समय उसे खाने के लिए गीध भी इकट्ठे होते हैं और राह देखते हैं कि यह कब मरेगा। सम्भव है कि उस समय उसे पश्चात्ताप होता होगा । बाकी आत्मचिन्तन वगैरह उसके लिए शक्य नहीं है।

इसलिए जहाँ देह-भिन्नता का भान नहीं है, वहाँ अभी मनुष्य मनुष्य है ही नहीं, दो पाँववाला जानवर है। चार पाँववाले जानवर से उलकी भिन्नता यह है कि उसके पास दो लम्बे हाथ हैं| इसलिए वह तरकीब से काम कर सकता है। लेकिन वह जानवर की ही एक जाति है। जैसे सिंह के दाँत मजबूत होते हैं, हाथी की सूँड़ मजबूत होती है, वैसे ही मनुष्य की अकल मजबूत होती है और वह तरह-तरह के औजार बना सकता है, इतनी ही बात है। जब तक मनुष्य अपने को देह से भिन्न पहचानता नहीं, तब तक वह जानवर की कोटि में ही चला जाता है। और दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इतनी सारी सभ्यता और संस्कृति के बावजूद मनुष्य-समाज का काफी हिस्सा जानवर की अवस्था में अभी तक है।

अब इसमें से निकलने की युक्ति क्या है, यह कहने से क्या लाभ है ? अगर सुननेवाले की श्रद्धा जम गयी, तो उसे श्रद्धा से लाभ होगा और उसकी बुद्धि को जँच गया, तो भी लाभ होगा, लेकिन **'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च'**—ज्ञान भी नहीं, श्रद्धा भी नहीं, ऐसी हालत हो, तो कोई लाभ नहीं होगा। सुननेवाले को लाभ दो ही प्रकार से हो सकता है—श्रद्धा के द्वारा, या बुद्धि के यानी विचार के द्वारा।

प्रश्न को श्रद्धा के द्वारा हल करना हो, तो अनेक सन्त पुरुषों ने, शास्त्रकारों ने जो कहा है कि तू शरीर नहीं है, उसे श्रद्धा से मानना चाहिए। और इस प्रकार श्रद्धा जम सकती है। बचपन में मुझे भूत का डर था। माँ ने कहा कि 'भूत दीखे तो लालटेन लेकर देखो, तो वह भाग जायगा। वह तो कल्पनामात्र है। और परमात्मा की भक्ति करनेवाले को भूत कभी दीखता नहीं।' माँ ने इतना कहा और मेरा भूत का डर खतम हुआ। क्योंकि माँ पर मेरी श्रद्धा थी। अगर मैं तर्क करने बैठता, तो वह क्या जवाब देती ? वह विद्वान् तो थी नहीं। लेकिन मैंने श्रद्धा रखी, इसलिए डर खतम हुआ।

एक दफा रात को दीवार पर मेरी बड़ी परछाईं मैंने देखी और डरकर माँ के पास भाग गया। माँ ने कहा, घबड़ाने की जरूरत नहीं है, वह तो तेरी गुलाम है, तू जैसी आज्ञा देगा, वैसा वह करेगी; तू खड़ा रहेगा तो वह भी खड़ी रहेगी, तू बैठेगा तो वह भी बैठेगी। मैंने बैसा करके देखा। माँ की बात सही निकली। तब मेरे ध्यान में आया कि वह मेरी गुलाम है। इसमें केवल श्रद्धा का नहीं, बुद्धि का भी उपयोग किया गया।

अगर हमारी बुद्धि में कमजोरी है, उसे हम पहचानते हैं, और दूसरों से मदद माँगते हैं, तो जाहिर है कि बुद्धि तक से हम भिन्न हैं और शरीर आदि से तो भिन्न हैं ही। विचार करने पर यह बात जँच जाती है, तो विचार से उसे दुहराते जाना चाहिए और श्रद्धा से उसे मजबूत बनाना चाहिए। देश-भिन्नता की पहचान के लिए ये दो ही साधन हो सकते हैं । [मैत्री, सितम्बर '६७]

गीता ने हमें कहा कि यह बहुत बड़ा भ्रम है कि हम समझते हैं कि हम मकान में रहते हैं। हमें समझना चाहिए कि हम देह में रहते हैं। जिस प्रकार घर में रहते हैं तो घर की थोड़ी आसक्ति रहती है। परन्तु वह थोड़ी रहती है, ज्यादा नहीं। उस प्रकार की भावना देह के प्रति रहनी चाहिए। अगर यह बात ध्यान में आ जाती है तो बहुत बड़ा काम हो जाता है। मकान जब तक पूरा गिरता नहीं, दुरुस्त हो, नादुरुस्त हो, हम उसका उपयोग करते हैं। लेकिन उसके बजाय, हम उसमें आसक्त बन जायँ, हम मकान की ईंट ही बन जायँ, तब तो हम जड़ बन जायेंगे। वैसे देह में रहते हुए हम देहमय बन जायँ तो हम जड़ बन जायेंगे और फिर देह का उपयोग करने की शक्ति नहीं रहेगी। घर की दीवारों का उपयोग करने की शक्ति ईंट में नहीं है, क्योंकि ईंट मकान का एक अंग है। अगर हम देह का उपयोग नहीं करेंगे तो देह ही

हमारा उपयोग करेगी, जैसे दीवार ईंट का उपयोग करती है। इसलिए अपने को देह-भिन्न पहचानना चाहिए।

साम्यसूत्र में यह विषय आया है। **'अन्यथा संस्कारासम्भवः।'** शरीर को अपने से अलग नहीं करोगे तो सुधार नहीं हो सकेगा। मान लीजिये कि शरीर रोगी है तो मैं भी रोगी हूँ । ऐसा मान लिया तो मनुष्य खत्म ही है। फिर डॉक्टर लाख कोशिश करे, वह शरीर जियेगा नहीं । परन्तु मनुष्य अगर महसूस करेगा कि शरीर रोगी है, लेकिन मैं तो नीरोगी हूँ, इस रोगी शरीर का मैं साक्षी हूँ तो उसमें सुधार सम्भव है। घर गिरने के साथ मैं ही गिर जाऊँगा तो उसको कौन दुरुस्त करेगा ? इसलिए संस्कार यानी सुधार करना असम्भव हो जायगा, अगर हम अपने को देहमय समझते हैं | वेदान्त एक ऐसी चीज है, जो दुनिया के काम की नहीं है । देह को हमसे अलग पहचानने की अव्यवहार्य बात वह करता है। परन्तु देह से हम अपने को अलग मानेंगे, तभी हमारा व्यवहार उत्तम होगा, अन्यथा हम व्यवहार नहीं करेंगे, व्यवहार ही हमें करेगा। हम व्यवहारवश हो जायेंगे। व्यवहार के कर्ता बनने के बजाय हम व्यवहार के कर्म बन जायेंगे। [मैत्री, फरवरी '६५]

३. सामूहिक साधना

आज विज्ञान आध्यात्मिक चिन्तन की जबरदस्ती कर रहा है। वह कह रहा है कि पुराने ऋषि व्यक्तिगत साधना करते थे, अब तुम सामूहिक साधना करो। यह विज्ञान तभी तुम्हारे लिए कल्याणकारी होगा, अन्यथा तुम्हारा नाश करेगा। विज्ञान की भूमिका पर जाने वाला ऋषि क्या करता था? 'मैं' और 'मेरा' छोड़ देता था। वह वेदान्त बोलता था : “यह घर मेरा नहीं, यह खेत मेरा नहीं, यह शरीर मेरा नहीं ।'' इसी तरह अब हम सब लोगों को कहना होगा कि “यह घर, यह सम्पत्ति, यह खेत मेरा नहीं, सबका है।” विज्ञान के जमाने में यह अनिवार्यत: करना ही होगा। आपके सामने दो ही पर्याय हैं—सामूहिक साधना या सर्वनाश। दोनों में से एक चुन लें—या तो आध्यात्मिक साधना कर पृथ्वी पर स्वर्ग उतारें या पृथ्वी के साथ स्वयं और स्वयं के साथ पृथ्वी को लेकर खतम हो जायँ।

सब कुछ नया बनाओ

'सुप्रामेंटल' भूमिका की भाषा दार्शनिक भाषा है, उसे बिल्कुल मामूली समझकर आपको और हमें उसका प्रयोग करना होगा। विद्यार्थी और शिक्षकों को विज्ञान की प्रयोगशाला में यह प्रयोग करना होगा। किसान, व्यापारी, सरकार, प्रजा सबको यह प्रयोग करना होगा। इसलिए आपके वे पुराने 'टेक्स्ट-बुक', कहानियाँ, साहित्य सारा आज निकम्मा हो गया है। सारा वाङ्मय छोटे स्तर पर है। वह अब काम नहीं देगा। इसलिए नया वाङ्मय बनाना होगा। धर्म की फिर से नये सिरे से स्थापना करनी होगी । ऊँचे स्तर पर जाना होगा। पुराना धर्म नहीं चलेगा। "मूर्ति के सामने गये, कपूर जलाया, आरती की, तो हो गये भगवान् प्रसन्न !" यह अब नहीं चलेगा। अब तो सारा मानव-समाज भगवान् की मूर्ति हो गया है, उसकी आरती उतारनी होगी। मानव-देवता को भोग (खाना) मिलता है या नहीं, यह देखना होगा।

नाटक ही वास्तविकता में परिणत होगा

आज सारे मानव-समाज को भगवान् समझकर उसकी पूजा का नाटक करना होगा। पहले हम नाटक करेंगे, तो भी धीरे-धीरे वह पूरी तरह सध जायगा। हमने ग्रामदान का नाटक शुरू किया है। लोग पूछते हैं कि क्या ग्रामदान के गाँव के लोगों ने जमीन की आसक्ति छोड़ दी ? क्या वे इतने वैराग्यवान् बन गये ? कया वे जितने प्रेम से अपने लड़कों की ओर देखते हैं, उतने ही प्रेम से गाँव के सब लड़कों की ओर देखते हैं ? आखिर एक क्षण में यह सब कैसे हो गया ? हम कहते हैं कि उन्होंने ग्रामदान दिया, याने एक नाटक किया है । विज्ञान का कहना है कि यह नाटक इस जमाने के लिए बहुत जरूरी है। धीरे-धीरे इस नाटक को वही विज्ञान यथार्थ में भी ला देगा। [धारवाड, मैसूर; ३१-१-'५८]

ब्रह्म-विद्या सर्व-सुलभ हो

श्री रामानुजाचार्य की कहानी सभी जानते होंगे। उन्होंने अपने गुरु के मन्त्र को जग-जाहिर करने के लिए खुद नरक भोगना स्वीकार किया और देशभर घूमकर उसका खुला उपदेश दिया। तब हमारे यहाँ ब्रह्म-विद्या गुप्त रखने की धारणा प्रचलित थी। वह गलत थी, यह मैं नहीं कहता। उसमें भी कुछ सार था। ब्रह्म-विद्या बाजार में बेचने के लिए लाने पर उसका कुछ मूल्य नहीं रहेगा, इसलिए उसे गुप्त रखने में ही मिठास है। लेकिन उसे प्रकट करने की मिठास भी निराली है। महाराष्ट्र में ज्ञादेव और एकनाथ

ने वही किया। जैसे हिन्दुस्तान में रामानुज ने ब्रह्म-विद्या के दरवाजे खोल दिये, वैसे ही महाराष्ट्र में ज्ञानदेव ने भी ब्रह्म-विद्या को सम्पन्न कर दिया। महाराष्ट्र में ज्ञानदेव ने जो महान् पराक्रम किया, रामानुज और चैतन्य ने वही देशभर में किया। वे जहाँ-जहाँ गये, ज्ञान ही बाँटते गये। स्त्रियों, नन्हें बच्चों और साधारण जनता—सबको ज्ञान बाँटते गये। इसीलिए ऐसी आम भावना है कि चैतन्य भगवान् कृष्ण के अवतार हैं, क्योंकि उनमें प्रेम साकार उतरा हुआ था। मैं कहना यह चाहता हूँ कि यह जो प्रेम का धर्म सन्तों ने हमें दिखलाया, हमें अब उसे ही आगे बढ़ाना है। यह उस काल में जिन मर्यादाओं से बँध गया था, वे आज नहीं रहीं। इसीलिए आज हम दो कदम आगे बढ़ सकेंगे—सन्तों द्वारा सिखलाये ज्ञान को पहचानेंगे, उसे नया रूप देंगे और सारी दुनिया के सामने रखेंगे। यह इच्छा इस युग के अनुरूप ही है। अब वैदिक धर्म को नया रूप प्राप्त होनेवाला है।

भक्ति सर्वोदय में रूपान्तरित होगी

अब भक्ति का रूपान्तर सर्वोदय में होगा। **'समं सर्वेषु भूतेषु'** इस भक्ति को अब 'परा भक्ति' नहीं रखना है, 'सामान्या भक्ति' बनाना है। पहले किसी एक को ही समाधि में यह अनुभव होता था कि "भूतमात्र मेरे सखा हैं, सारे भेद मिथ्या हैं, ये मिटने चाहिए।" किन्तु आज यही अनुभव सबको होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आज सामाजिक समाधि सधनी चाहिए। परमात्मा मेरे मुँह से बहुत बड़ी बातें कहलवा रहा है। तीन साल पहले बंगाल की यात्रा में मैं एक ऐसी जगह पहुँचा, जहाँ रामकृष्ण परमहंस की पहली समाधि लगी थी। तालाब के किनारे उसी जगह बैठकर मैंने कहा था कि "रामकृष्ण को जो समाधि लगी थी, उसे अब हमें सामाजिक बनाना है।'' यह भी ज्ञानदेव ने कह दिया है : **'बुद्धिचे वैभव अन्य नाहिं दूजे।'** इस एकत्व का अनुभव सबको होना चाहिए।

साम्ययोग : पहले शिखर, अब नींव

विज्ञान के युग में साम्ययोग भी सिर्फ समाधि में अनुभव करने की चीज नहीं रही बल्कि सारे समाज को उसका अनुभव आना चाहिए। गयी है। साम्ययोग पहले 'शिखर' था, पर अब 'नींव' बन गया है। अब हमें साम्ययोग के आधार पर अपना जीवन खड़ा करना होगा। यही विज्ञान-युम की माँग

और आवश्यकता है। इसलिए आज हम जैसे साधारण लोगों को भी ऐसे काम करने की प्रेरणा हो रही है।

सर्वश्रेष्ठ भक्त का लक्षण : पूर्ण निर्भयता

भक्ति का मूल मन्त्र देनेवाला प्रह्लाद है। नारद उसका गुरु है, फिर भी महाभक्तों की सूची में प्रह्लाद का नाम पहले आता है। और नारद का सबके बाद। जब भयानक रूप धारण कर नरसिंहावतार प्रकट हुआ, तो भगवान् की चिर-परिचित लक्ष्मी घबरा उठी; नारद की जो वीणा क्षणभर रुकती नहीं थी, वह रुक गयी और वह भी घबरा उठा। फिर भी प्रह्लाद निर्भयता के साथ नरसिंह रूप के सामने खड़ा होकर कहने लगा : **'नाहं बिभेमि'**—मैं तुमसे नहीं डरता। उसने भगवान् के रूप के समक्ष यह जो निर्भयता दिखलायी, उसी कारण वह सर्वश्रेष्ठ भक्त माना गया। दुष्ट रूप के सामने बहुतों ने निर्भयता दिखलायी थी। व्याध वाल्मीकि के सामने नारद थोड़े ही डिगनेवाला था, लेकिन भगवान् के रूप के सामने तो वह भी क्षणभर घबरा ही गया। इसीलिए निर्भयता की कसौटी पर प्रह्लाद खरा उतरा।

इसके बाद प्रह्लाद ने भगवान् से वर माँगा :

'प्रायेण देवमुनय: स्वविमुक्तिकामा:।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठा:।।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेक:।'

उसने कहा : "प्रभो ! अपनी मुक्ति की कामना करनेवाले देव और मुनि अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे; किन्तु उनमें परार्थनिष्ठा नहीं थी। लेकिन मैं अकेला इन सब कृपणजनों को छोड़ मुक्त होना नहीं चाहता।" कितनी कड़ी आलोचना प्रह्लाद ने की—उन मुनियों के पीछे स्वार्थ लगा हुआ था, परार्थ नहीं। "मैं अकेला मुक्त होना नहीं चाहता !'' संस्कृत-साहित्य का यह सर्वश्रेष्ठ उद्गार है। इसे कहने में कितना अधिक कवि-हृदय उँडेल दिया गया है।

'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष

वास्तव में मोक्ष अकेले पाने की वस्तु नहीं है । जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है। 'मैं' के आते ही 'मोक्ष' भाग जाता है। 'मेरा मोक्ष' यह वाक्य ही

व्याहत है, गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है । यह विषय हम सबके लिए चिन्तन और आचरण करने के लिए भी है । मुख्य बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि अब से हमें अपना जीवन बदलना होगा। इसे दृष्टि में रखते हुए जीवन के आर्थिक, सामाजिक आदि नाना भेदों को हम नष्ट कर दें। [पण्ढरपुर, महाराष्ट्र; २९-५-'५७]

आज तक विचारमात्र का उद्देश्य यह माना गया था कि हम मुक्त हो जायँ। बाद में भक्तों ने उसमें संशोधन किया और कहा कि देह-मुक्ति ही कोई मुक्ति नहीं है, अहंकार-मुक्ति ही मुक्ति है। इसलिए अहंकार छोड़कर भगवान् की मुक्ति में लीन होने में ही हमारी मुक्ति है। हम और कोई मुक्ति नहीं चाहते। इस प्रकार भक्तिमार्गी लोगों ने मध्ययुग में मुक्ति की कल्पना में संशोधन किया । फिर चाहे वे तुलसीदास हों, चैतन्य महाप्रभु हों, शंकरदेव हों या तुकाराम—इन सबने यह बात बतायी।

यह बात सब भक्तों ने उठा ली और कहा कि हम जनता की सेवा करेंगे, हम भक्ति का प्रचार करेंगे। यही भाषा रामकृष्ण के शिष्यों ने प्रयुक्त की है। **'आत्मनो हिताय जगतः सुखाय च'**—अपनी आत्मा के हित के लिए और जनता के सुख के लिए—ये दो शब्द ध्यान में रखने योग्य हैं | उन्होंने अपने सुख की बात नहीं की; अपने हित और जग के सुख की बात की है।

हित और सुख का विवेक

इसमें एक द्वैत रह जाता है कि हम अपना हित सोचने के साथ जनता के सुख का भी विचार करेंगे। अगर अपना हित सोचेंगे, तो जनता का हित क्यों नहीं सोचेंगे ? इसलिए कि किसीकी इच्छा के विरुद्ध हम उस पर हित लाद नहीं सकते ! मैं मानता हूँ कि वैराग्य में हित है, लेकिन सामनेवाला ऐसा नहीं मानता। वह किसी बीमारी में से तो मुक्त होना चाहता है, पर वैराग्य नहीं चाहता। वह 'हितकाम' नहीं है, 'सुखकाम' है। ऐसी परिस्थिति में मैं अपना वैराग्य उस पर लादूँ तो यह जुल्म होगा, इसमें हिंसा होगी और मेरा अहंकार भी होगा कि मैं किसीको वैराग्य सिखानेवाला हूँ। मैं अगर वैराग्य को अच्छा मानता हूँ, तो मैं अपने लिए साधना करूँ; लेकिन दूसरा दुःख-मुक्ति चाहता है, तो उसमें मुझे मदद करनी होगी। यह साधक की मर्यादा है। वह अपना हित सोचेगा, लेकिन दुनिया के सुख की चिन्ता करेगा। भक्तों ने कहा कि हम मुक्ति छोड़कर भक्ति में लग जायँगे, वही जनता को सिखायेंगे और जनता के लिए

जियेंगे। ये लोग कहते हैं कि हम 'आत्मनो हिताय' की प्रवृत्ति करेंगे, जिसमें जगत् के सुख की कल्पना होगी।

एक बार मुक्ति छोड़कर भक्ति में आ गये और फिर जनताभिमुख हो गये। इसलिए अब जनता पर भक्ति न लादकर उसकी सेवा करना चाहते हैं, उसका दुःख निवारण करना चाहते हैं। इसलिए रामकृष्ण मिशन ज्यादातर लोगों के दुःख-निवारण-हेतु अस्पताल वगैरह चलाते हैं। उन्होंने मुक्ति का ख्याल नहीं छोड़ दिया है, लेकिन 'आत्मनो हिताय' भक्ति माना और लोगों के सुख के लिए सेवा माना।

सामाजिक समाधि

आज हम जिस भक्ति की चर्चा कर रहे हैं, उसमें द्वैत नहीं है। जनता का सुख और हमारा हित ऐसा भेद नहीं है। हम अपने लिए जो समाधि चाहते हैं, वही समाधि जनता को प्राप्त होनी चाहिए। इसलिए हमने एक विलक्षण शब्द का प्रयोग किया है—सामाजिक समाधि।

यह सामाजिक समाधि क्या है ? जब तक मनुष्य अपने चित्त में फँसा रहता है, तब तक वह दूसरे को अपने से अलग ही रखता है। क्योंकि हरएक का अपना-अपना चित्त है। दुनिया में तीन सौ करोड़ चित्त हैं। अगर हम इस चित्त की भूमिका पर काम करेंगे (फिर वह चाहे समाज के हित का विचार हो या अपने चित्त का), तो वह कुल मिलाकर मन का विचार, वासनाओं का विचार होगा। जब तक हम इस भूमिका पर काम करेंगे, तब तक मनुष्य का समाधान नहीं होगा।

विकास-परम्परा

अब आनेवाला युग विज्ञान का है। उपनिषदों ने समझाया है कि **'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्; प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्; मनो ब्रह्मेति व्यजानात्'** और इसके बाद कहा है—**'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्'**। इसमें उपनिषदों ने एक इतिहास बताया है। पहले अन्न ब्रह्म था; फिर प्राण ब्रह्म था; उसके बाद मन ब्रह्म था। इसके भी आगे विज्ञान ब्रह्म होगा। विज्ञान-युग में व्यक्तिगत या सामाजिक मन का विचार नहीं होगा। उसमें मन का छेद (नाश) हो जायगा। लोग अगर मन की भूमिका में सोचते रहेंगे, तो मन के साथ मन की टक्कर होगी और अन्योन्य विरोध रहेगा, फिर वह मन चाहे जाति का हो, भाषा का हो, उपासना-पन्थों का हो, धर्म का हो या राष्ट्र का हो। जब तक हम मन की भूमिका से ऊपर नहीं

उठेंगे, तब तक विज्ञान के लायक नहीं बन सकेंगे। परन्तु आज हालत यह है कि चाहे हम लायक बनें या न बनें; विज्ञान आ चुका है और अभी तक हम मन की भूमिका से ऊपर उठे नहीं हैं। मन की उपाधि में हम फँसे हुए हैं। विज्ञान-युग में यह सब हमें छोड़ना पड़ेगा। प्रार्थना अरबी में करें या संस्कृत में, आशीर्वाद संस्कृत में दें या बंगला में—इस प्रकार के जो नाना भाव हैं, ये मन के साथ जुड़े हुए हैं।

पुराना मन, नया मन

इसमें कोई शक नहीं कि पण्डित मदनमोहन मालवीय बहुत बड़े महापुरुष थे, परन्तु वे जब इंग्लैण्ड गये, तब अपने साथ भारत की कुछ मिट्टी और गंगाजल ले गये। यहाँ की मिट्टी पवित्र है, गंगाजल पावन है आदि बातें मन बोलता है। लेकिन यह मन पुराना है। हमने देखा है कि गंगा के पानी से भी हैजा होता है। लोग जो कहते हैं कि काशी में मृत्यु होने से मुक्ति मिलेगी; भले ही यह भावना पवित्र हो, लेकिन यह बोलनेवाला मन भी पुराना है। विज्ञान के सामने यह मन नहीं टिकेगा। आज सबको विज्ञान की भूमिका में आरूढ़ होना ही होगा। उपनिषद् ने समाज का ऐतिहासिक विकास-क्रम दिखाते हुए यही कहा कि प्रारम्भ में सारा मानव-विकास अन्नमय भूमिका में रहा; फिर प्राण-भूमिका में आया, जानवरों से अपनी रक्षा करनी थी, इसलिए प्राणमय भूमिका में आना पड़ा था। और बाद में समाज मानसिक भूमिका में आ गया। अब उसके आगे विज्ञान की भूमिका में आ रहा है।

चित्त का समत्व

आज एक ओर जहाँ मनुष्य के मन एक-दूसरे से टकरा रहे हैं, वहाँ इधर-उधर विज्ञान का उदय भी हो चुका है। इस स्थिति में मनुष्य पर विज्ञान का आक्रमण होने लगा है। जब तक मनुष्य मन से मुक्त होकर, मन से ऊपर उठकर हर चीज के बारे में सोचने नहीं लगेगा, तब तक वह टिक नहीं सकेगा। आज मनुष्य के सामने प्रश्न है कि वह समत्व-बुद्धि से सोचेगा या नहीं। अब हम मन के मुताबिक सोचते नहीं रह सकते। यह गा नहीं सकते कि **'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा'**। सारे संसार में हमें भारत अच्छा लगता है, क्योंकि वह हमारा है—ये सब छोटे अभिमान अब हमें छोड़ने होंगे। दवा कितनी भी कड़वी क्यों न लगती हो, तो भी उसे लेना ही पड़ेगा; क्योंकि यह विज्ञान है। अब मेरी व्यक्तिगत समाधि और आपकी आधि, व्याधि, उपाधि नहीं चलेगी। अब तो सामाजिक समाधि चाहिए। समाधि का अर्थ

है समत्वयुक्त चित्त। जिस चित्त में विकार का स्पर्श नहीं, अहंता-ममता नहीं, संकुचित भाव नहीं, इस प्रकार जो विज्ञानमय चित्त होगा; उसका नाम है समाधि। सारा समाज ऐसी समाधि पाये अथवा नष्ट हो जाय—ऐसा सवाल आज विज्ञान ने उपस्थित किया है। [कामार पुकुर, हुगली, प० बंगाल; १८-४-'६३]

४. ध्यान-साधना

तुकाराम महाराज का एक अभंग है :

'इच्छिती तयांसीं व्हावें जी अरूप।

आम्हांसी स्वरूपस्थिति चाड।'

तुकाराम महाराज भगवान् से बात कर रहे हैं कि 'हे भगवन्! जो जैसा चाहे, उसके लिए तुम वैसे बनो। अरूप का दर्शन करने की जिसकी इच्छा है, उसके लिए तुम अरूप बनो। लेकिन मुझे वह इच्छा नहीं। मुझे अरूप की नहीं, सरूप की इच्छा है।'

एक बाजू है अरूप, दूसरी बाजू है विश्वरूप, और दोनों के बीच एक सरूप है। अगर अरूप को हम न पहचानें तो अरूप का अर्थ होगा—'है नहीं'। चित्त में अरूप आयेगा, वह कुछ है नहीं, शून्य है। शून्य है कहने में भी 'है' आया। इसलिए अरूप यानी 'है नहीं'। अगर हम विश्वरूप को पहचानेंगे नहीं, तो सामने यह जो सारा दीख रहा है—नदी-नाले, पत्थर, पहाड़ ये सारे हैं नहीं कहना पड़ेगा। तो फिर जो दीखता है, वह क्या है ? मतलब, न अरूप का खयाल, न विश्वरूप का खयाल, बिना अनुभव के—अन्तर अनुभव के—आ सकता है। इसलिए **आम्हांसी स्वरूपस्थिति चाड।**

वेदान्त ने रास्ता दिया

फिर तुकाराम महाराज कह रहे हैं कि जिसकी जो इच्छा हो, वैसा दर्शन तुम दो। मतलब, जो चीज एक को चाहिए, वही दूसरे को या तीसरे को चाहिए, ऐसा कह नहीं सकते।

बहुतों का खयाल है कि वेदान्त में हमने आखिरी खोज कर डाली; अब नयी खोज करनी है नहीं, खोज पूरी हो चुकी है। मैं ऐसा नहीं मानता। खोज पूरी हो चुकी, ऐसा नहीं | लेकिन रास्ता मिल गया है। जैसे विज्ञान में है। कोई वैज्ञानिक दावा नहीं करता कि सब विज्ञान हाथ में आ गया। वह कहता है

कि एक बूँद हाथ में आया। अभी रेडियो एस्ट्रानमी से ज्ञान इतना विशाल हो गया है कि उसका हिसाब करते-करते दिमाग चकरा जाता है। फिर भी वैज्ञानिक उसे बूँद के समान मानता है। इधर वेदान्ती उलटा कहता है। वह कहता है, हमें सब कुछ मिल गया। उसको सन्तोष हो गया है।

सन्तोष तो मैंने कई लोगों में देखा है। मेरी माँ की मृत्यु के समय मैंने उससे पूछा था कि क्या तुम्हें सन्तोष है ? तो बोली—हाँ, है। फिर उसने सन्तोष का कारण भी बताया था कि तुम अब समझदार हो गये हो, इसलिए तुम्हारी चिन्ता नहीं है, और छोटे भाइयों को तुम सँभालोगे तो उनकी भी चिन्ता नहीं रही । दूसरा कारण यह बताया कि मुझे भगवान् का दर्शन हुआ। मृत्यु के कुछ दिन पहले ही वह डाकोरजी का दर्शन कर आयी थी। इसलिए उसको समाधान था। इस समाधान का अर्थ कोई ऐसा करे कि जो ईश्वर-दर्शन की अनुभूति है, वह उसको हो चुकी थी, तो वह भ्रम है।

समाधान दो प्रकार से होता है। एक होता है भौतिक समाधान। अपना भला हो, बाल-बच्चों का भला हो, आदि भौतिक इच्छा पूर्ण होती है, तब भौतिक समाधान मिलता है। दूसरा है आत्मिक समाधान। भौतिक इच्छाओं से परे कुछ मंगल इच्छाएँ मनुष्य के चित्त में होती हैं। वे पूरी होती हैं, तब आत्मिक समाधान होता है। **'आला अंतराला नारायण। चित्त समाधान खूण त्याची'**—नारायण चित्त में आया, उसकी क्या पहचान है ? उसकी पहचान है चित्त में समाधान। लेकिन चित्त में समाधान है, इसलिए नारायण का पूरा साक्षात्कार हो गया और हम नारायणमय बन चुके, ऐसा नहीं। उसने हृदय में उतना प्रवेश किया इतना ही अर्थ है।

साक्षात्कार की परिसमाप्ति नहीं

साक्षात्कार की परिसमाप्ति हुई, यह जो वेदान्त का खयाल हमें आता है, वह आना एक दृष्टि से ठीक है, एक दृष्टि से गलत है। अच्छा इसलिए कि चित्त में समाधान है। असमाधान की अपेक्षा समाधान अच्छा लक्षण है । लेकिन समाधान भी हो और लम्बा फासला बाकी है, उसका भान भी हो, तो सत्य का लक्षण प्रकट होगा। जितनी लब्धि हुई, उसमें सन्तोष है, लेकिन वही परिपूर्ण है, ऐसा नहीं। उसमें असन्तोष का कोई कारण नहीं। जितनी खोजें हैं, वे सब मेरे द्वारा ही होंगी और इसी जन्म में होंगी, ऐसा नहीं । आगे अनेक आनेवाले हैं । वे आगे बढ़ायेंगे। इसलिए मुझे लगता है कि वेदान्त को भी नम्रता की

आवश्यकता है। क्योंकि ईश्वर की अनुभूति इस देह में, इस बुद्धि द्वारा पूरी की पूरी हो जायगी, यह खयाल ही भ्रान्त है । उसके एक अंग की अनुभूति आपको आयेगी। उससे आपका समाधान होगा, तो आपका काम भी होगा। जैसे तुकाराम महाराज ने माना—**'आतां नव्हे माझा भाव अनारिसा। पाउलानी इच्छा गोवियेली'।**—आपके चरणों ने मेरी इच्छा को कैद कर लिया। यानी आपके चरण-दर्शन की ही इच्छा है। लेकिन जो उसकी इच्छा नहीं करता, उसके लिए बने अरूप | अरूप भी एक चीज है। लेकिन मुझे उसकी इच्छा नहीं है।

यह बात मैं कई दफा कहता हूँ। जब क्रिस्ती लोगों के साथ या मुसलमान लोगों के साथ बातें होती हैं, तब मैं उनसे कहता हूँ कि तुम लोग जो मान बैठे हो कि क्रिस्त की अनुभूति पूर्ण है, मुहम्मद की अनुभूति पूर्ण है, वह मैं नहीं मान सकता। ईश्वर की पूर्ण अनुभूति ईश्वर को ही है। दूसरों को उसकी अंशानुभूति ही हो सकती है। इसलिए तुम लोगों को दूसरे धर्मों का अनुभव शेअर करना (हिस्सेदार होना) चाहिए। उसका लाभ लेना चाहिए। उससे अपूर्ण पूर्ण होगा। सोचना चाहिए कि ईश्वरी ज्ञान का एक अंश इस्लाम में आ गया। बहुत अच्छा अंश है। लेकिन एक दूसरा भी अंश है, जो हिन्दू-धर्म में पड़ा है; एक तीसरा भी है, जो क्रिश्चन धर्म में पड़ा है और दूसरे एक-एक धर्म में भी भिन्न-भिन्न अनुभव हैं।

उत्तरोत्तर ज्ञान-अनुभव-वृद्धि

यह कोई नहीं कह सकता कि जो अनुभव ज्ञानेश्वर महाराज को आया था, वही तुकाराम महाराज को आना चाहिए, या आया होगा। वही अनुभव तुकाराम महाराज को तीन-चार सौ साल के बाद आये, तो उनका जन्म ही व्यर्थ है। जन्म लेकर क्या किया ? कुछ तो वृद्धि करनी होगी। उन्होंने कुछ नयी चीज दाखिल की होगी। यह अलग बात है कि पूर्वजों के अनुभवों के प्रति आदर रखें, खण्डन न करें, भास ही न हो कि हम कोई नयी चीज ढूँढ़ रहे हैं, बल्कि उसका एक नया रूप, नया शब्द सुझा रहे हैं, ऐसा मानें। लेकिन अनुभवों में वृद्धि होती रहेगी।

इतनी विशाल सृष्टि पड़ी है। पेड़ है। पेड़ की जड़ें होती हैं, तना होता है, शाखाएँ होती हैं, पत्ती, फूल, फल होते हैं—और प्रत्येक पत्ती-फूल-फल एक-दूसरे से अलग होता है। एक के समान दूसरा

नहीं। मेरे अँगूठे के समान दूसरा अँगूठा नहीं मिलेगा। हर मनुष्य का अँगूठा अलग है। ईश्वर की सृष्टि में इतनी विविधता है। जहाँ इतनी विविधता पड़ी है, वहाँ यह मान लेना कि ईश्वर का पूरा-का-पूरा स्वरूप हमारे ध्यान में आया, विलक्षण बात है | ईश्वर का एक अंश ध्यान में आयेगा और वह अंश भी वृद्धिकारक होगा। हमारी खोज पूर्ण हो गयी, ऐसा मानने की जरूरत नहीं है। अन्तिम रेखा दे दी और खाता बन्द कर दिया, यह नहीं हो सकता।

ईश्वर के गुण भी अनन्त

सृष्टि में तो मैं यह देखता ही हूँ, परन्तु गुण-दृष्टि से भगवान् की ओर देखता हूँ, तब भी यही बात ध्यान में आती है। ईश्वर के अनन्त रूप हैं। जिसको जिस रूप में समाधान होगा, उसके लिए वह रूप पर्याप्त है। लेकिन रूप में मेरा समाधान नहीं। रूप देखकर ईश्वर का भाव पैदा होता है, उसमें विकास है। उसका ग्रहण होता है। लेकिन ध्यान के लिए बैठा और भरत-राम का रूप सामने आया, ऐसा अक्सर नहीं होता। कभी याद आती होगी, तो वह याद है। उसको मैं शुद्ध ईश्वर का ध्यान मानता नहीं | वह ईश्वर के संकेत का ध्यान है।

मान लीजिये, आपको घी की जरूरत है। आप एक कागज पर 'घी' लिखकर देते हैं तो घी मिलेगा। वास्तविक घी और कागज पर लिखा घी दोनों में अन्तर है। उन दोनों में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर वास्तविक ईश्वर में और ईश्वर के संकेत में है। वह संकेत है, चिह्न है | मैंने आपको एक कागज पर 'घी' लिख दिया, तो क्या आपको वह समाधान होगा, जो कि साक्षात् घी से होगा ? लेकिन संकेत का उपयोग होता है। संकेत से वस्तु की ओर हमारा ध्यान जाता है। परन्तु अगर उसी पर हम केन्द्रित रहें, तो वस्तु अलग रह जायगी और संकेत ही हाथ में रहेगा । इसलिए ध्यान में, परमेश्वर के ध्यान में मैं गुणों की कल्पना करता हूँ। इस विषय में नानक का एक वाक्य मुझे बहुत आकर्षक लगा था—**'बिनु गुण किये भक्त न होइ'**—बिना गुण प्राप्त किये भक्त होगा नहीं ।

ईश्वरी-गुण व्यापक

ईश्वर दयालु है, ऐसा मानते हैं, तो दया-गुण का साक्षात्कार इस शरीर में होना चाहिए। दया-गुण हो या प्रेम-गुण हो, सब पर है, तो वह ईश्वरी-गुण है। अगर किसी एक ही व्यक्ति पर प्रेम खतम हो गया,

तो वह ईश्वरी-प्रेम नहीं हुआ, मानव-प्रेम हुआ। वह तो बकरी-भेड़ों में भी होता है। कुत्ते का एक पर प्रेम है और दूसरे पर वह भूँकता है। सीमित प्रेम को प्रेम नहीं कह सकते। प्रेम व्यापक होना चाहिए। एक गुण भी इतना व्यापक हो, जितना ईश्वरी-गुण व्यापक है। कितनी बड़ी साधना है ! और एक मनुष्य ने भी यह सिद्ध किया हो, तो पर्याप्त है। कहते हैं कि चैतन्य महाप्रभु ने यह किया था। प्रेम की उत्कटता उनमें प्रकट हुई थी। कहीं भी हरा-नीला रंग देखते थे, तो घनश्याम समझकर आलिंगन दे देते थे। एक दिन एक स्त्री नीला कपड़ा पहनकर जा रही थी, तो उसको भी आलिंगन देने चले। शिष्य ने देखा और कहा—आप संन्यासी हैं। तो एकदम रुक गये। मतलब, संन्यासी हूँ, यह भी भान नहीं था। और अन्त में कैसे हुआ ? वे समुद्र के किनारे पर सोते थे। रात को उठे | समुद्र का नीला रंग देखा, तो उसको आलिंगन देने के लिए दौड़े और समुद्र में प्रविष्ट हुए। इतना उनमें प्रेम का प्रकर्ष था।

गुणानुभूति में उत्तरोत्तर वृद्धि

मैं दो बातें सोचता हूँ । हमने माना कि एक मानव ने देहधारी होते हुए भी ईश्वर का प्रेम जितना व्यापक हो सकता है, उतना स्वयं किया। यद्यपि यह मानने में विचार को तकलीफ होती है। लेकिन 'लेट ए बी सी बी ए ट्रैंगल'। मानें कि चैतन्य प्रभु को साक्षात्कार हुआ और प्रेम-गुण का आविष्कार उन्होंने किया। लेकिन ईश्वर का कोई यह एक ही गुण नहीं है, और भी गुण हैं। और उन गुणों की पूर्ति चैतन्यदेव नहीं करते। किसी दूसरे गुण की पूर्ति दूसरा व्यक्ति करता होगा, तीसरे की तीसरा। विवेकानन्द ने गौतम बुद्ध के हृदय और शंकराचार्य के दिमाग का समन्वय करना चाहा था। यानी उन्होंने यह माना कि गौतम बुद्ध का हृदय ईश्वर कौ बराबरी में आया और शंकर की बुद्धि परम ज्ञान में ईश्वर की बराबरी में आयी। लेकिन ईश्वर के ज्ञान की तुलना में शंकर का अपना ज्ञान एक अंशमात्र है। वैसे ही ईश्वर के विशाल हृदय की तुलना में बुद्ध के हृदय की विशालता भी अंशमात्र है। फिर भी भक्ति से हम यह बात मान्य करते हैं कि उन्होंने मानव-देह में इन गुणों का जितना प्रकर्ष करना शक्य था, उतना किया। फिर भी ज्ञान, उत्साह, शौर्य आदि परमेश्वर के अनन्त गुण हैं । उन गुणों की पूर्ति करनेवाले और होंगे, आगे आयेंगे। तुकाराम महाराज ने परमेश्वरी गुण के आविष्कार की कसौटी बतायी कि वह दोषों को भी गुण बना देगा। प्रेम का प्रकर्ष मुझमें हुआ, तो आसपास भी प्रेम की प्रकर्षता होगी। 'ए मैन इज नोन बाय द कम्पनी ही कीप्स'—मनुष्य पहचाना जाता है, उसकी मण्डली से। तो प्रेम के विक्रम का क्षेत्र भी खुल जाता है। ईश्वर के

अनन्त गुण हैं। इसलिए ईश्वर के अनन्त गुणों का साक्षात्कार हो चुका और वेदान्त में यह विषय समाप्त हो चुका, ऐसा मानें तो वह भ्रान्ति है । [मैत्री, दिसम्बर '६६]

गुण-ध्यान कैसे ?

एक प्रश्न मुझे पूछा गया है कि अगर दो घण्टा ध्यान करना है, तो गुणों का ध्यान कैसे कर सकते हैं ? इस प्रश्न में ध्यान के विषय में अज्ञान है। ध्यान कोई काम नहीं कि उसके घण्टों की गिनती की जाय। काम के घण्टे हो सकते हैं। उसकी मजदूरी भी हो सकती है। क्योंकि एक मनुष्य की शक्ति दूसरे से कम-बेशी होती है, लेकिन दोनों के द्वारा शरीर-शक्ति से जो काम होगा, उसमें बहुत ज्यादा अन्तर नहीं होता है | एक मनुष्य एक घण्टे में जितना काम करेगा, उससे दुगुना या तिगुना काम दूसरा मनुष्य कर सकता है। लेकिन यह नहीं हो सकता कि एक मनुष्य जो करेगा, उससे हजारगुना काम दूसरा मनुष्य करेगा। लेकिन ध्यान में ऐसा होता है। एक मनुष्य १५ मिनट में जितना ध्यान करेगा, उससे १०० गुना ध्यान दूसरा मनुष्य ५ मिनट में करेगा। इसलिए यह कोई समय का गणित नहीं है।

ध्यान आसक्ति न बने

हम जहाँ* बैठे हैं, वह ध्यान-भूमि है। यहाँ ध्यान के अनेक प्रयोग हुए हैं। कोटीबाबा का नाम आपने सुना होगा। वे छत पर बैठकर ध्यान किया करते थे। आरम्भ में दस-पन्द्रह मिनट करते थे। धीरे-धीरे ध्यान का समय बढ़ते-बढ़ते दो-तीन घण्टे तक ध्यान होने लगा। एक दिन सुबह प्रार्थना के बाद, करीब पाँच बजे ध्यान के लिए बैठे तो दोपहर तीन बजे जागे। यानी ९-१० घण्टे ध्यान हुआ। मैं उस समय जेल में था। यहाँ के भाइयों ने उस सम्बन्ध में मुझे लिखा। कोटीबाबा ने उसका वर्णन लिखा कि उसमें बहुत आनन्द आता है वगैरह। हमने सुना है कि मच्छींद्रमुनि आसन लगाकर लगातार तीन दिन ध्यान करते थे। हमने स्थितप्रज्ञ-दर्शन में लिखा है कि भले तीन दिन ध्यान लगा हो, लेकिन आखिर उतरा तो सही। अगर ध्यान उतरा नहीं और मर गया, तो वह ध्यान-समाधि नहीं । कोटीबाबा का ९-१० घण्टे ध्यान हुआ।

उस वक्त मैंने उनको लिखा था कि आजकल सैक्रीन नाम की एक वस्तु निकली है। एक प्याला पानी में पाँच तोला चीनी डालने से पानी जितना मीठा होगा, उतना सैक्रीन के दो-तीन कण से होता है।

सैक्रीन यानी घनीभूत शर्करा। आपको ध्यान में आनन्द का जो अनुभव आता है, वह तो आनन्द का भोग हो गया। इसलिए २४ मिनट की एक घटिका होती है। उतने से सारा समाप्त कीजिये। फिर जिस आनन्द की अनुभूति आपको ९-१० घण्टे आयी, उससे अधिक आनन्द २४ मिनट में होगा। उन्होंने वैसा प्रयोग शुरू किया और एकाध महीने बाद मुझे लिखा कि उसके पहले कभी नहीं हुआ था उतना आनन्द का अनुभव मुझे आया और आपने मुझे विषयासक्ति से बचाया। मतलब यह है कि उनका ध्यान विषयासक्ति था। ध्यान की एक धुन बन गयी थी। एक बार ध्यान खतम हुआ कि दुबारा ध्यान। एक आसक्ति खतम हुई कि दूसरी। जैसे एक पूनी खतम हुई कि दूसरी ली जाती है।

---

*परंधाम आश्रम, पवनार।

व्यसन और आसक्ति

दूसरा उदाहरण है हमारे दूसरे एक मित्र का। बहुत बीड़ी पीते थे। कहा करते थे कि मुझे बीड़ी का व्यसन नहीं है। मैं अनासक्त हूँ। गीता की भाषा में बोलते थे। एक बार उन्होंने उसका सबूत भी दिया। कहा कि जिस दिन मैं जेल गया, उस दिन बहुत बीड़ी पी ली। उसके बाद सालभर जेल में था, तो सालभर बीड़ी नहीं पी। जिस दिन छूटा, उस दिन एकदम बीड़ी पीना शुरू कर दिया। इससे सिद्ध होता है कि मुझे बीड़ी की आसक्ति नहीं है, जब चाहे तब छोड़ सकता हूँ। मैंने कहा कि इससे सिद्ध होता है कि आपको व्यसन नहीं है, लेकिन आसक्ति जरूर है। अनासक्ति तब कही जायगी, जब उस चीज की आवश्यकता सिद्ध होगी। आवश्यकता है, तो खायें और फिर अनासक्ति से खायें ! मेरी बात उन्होंने मान ली कि बीड़ी की आवश्यकता नहीं है, लेकिन बीड़ी छोड़ी नहीं।

सार यह कि ध्यान का लम्बा कार्यक्रम जरूरी नहीं है। चीज ही ऐसी गहरी है कि उसके लिए लम्बे समय की आवश्यकता नहीं है।

उपासना : एक उपाधि

ध्यान के विषय में बोलते हुए मैंने भगवत्-गुणों का ध्यान करने को कहा। प्रेम-गुण की मिसाल दी। परमात्महृदय का पूरा-का-पूरा साक्षात्कार मानव-हृदय में हुआ या नहीं कहना मुश्किल है, लेकिन

मान लिया कि किसी एक गुण का परिपूर्ण साक्षात्कार किसी एक मानव-हृदय में हुआ और समाज ने भी मान लिया। लेकिन भगवान् के दूसरे गुण भो हैं और वे भी मनुष्य को जरूरी हैं। उसके भी कई प्रकार हैं। कई पन्थ हैं। कोई ईश्वर को मातृरूप में देखता है, कोई पितृरूप में, तो कोई गुरुरूप में। उपासना के, ध्यान के ऐसे अलग-अलग प्रकार हैं। मुझे ईश्वर को मातृरूप में देखने की आदत है। मेरे जीवन में मित्र-भावना विशेष रही है। गुरु के प्रति मेरे मन में बड़ा आदर है। ईश्वर के लिए गुरुभाव है। लेकिन यह भी कुछ उपाधि है, ऐसा समझकर (इस टायफायड की बीमारी* में) मैंने तीनों भावनाओं का विसर्जन कर दिया। लेकिन पुरानी आदत है, तो ईश्वर का कहीं गुरुरूप में या मातृरूप में वर्णन पढ़ लेता हूँ, तो मेरी आँखों में आँसू बहने लगते हैं। लेकिन उन आँसुओं को भी उपाधि समझना चाहिए, भले ही कितने भी पवित्र क्यों न हों।

---

* अगस्त १९६४।

उपाधि भी सहायक

लेकिन इस प्रकार की उपाधि ध्यान में सहायक होती है। उसको उपाधि समझकर छोड़ दें तो उससे लाभ नहीं होगा। कुछ हद तक मनुष्यों को इन उपाधियों की जरूरत है। उनका उपयोग कर मनुष्य आगे जा सकता है। किसी महान् पुरुष की बात छोड़ दें। वह आरम्भ में ही इनको छोड़कर आगे जा सकता है । इसलिए समझना चाहिए कि भगवान् के गुणों का ध्यान, और आगे उनका अनुशीलन करने के लिए मूर्तियाँ भी काम देती हैं। अनेक भक्तों ने मूर्तियों का ध्यान किया है। लेकिन मैं अपनी बात जानता हूँ । मैंने भरत-राम का ध्यान किया। महाराष्ट्र के सन्तों के भजन पढ़ने की बचपन की आदत थी। इसलिए कुछ दिन विठोबा का भी ध्यान हुआ। बड़ौदा में गौतम बुद्ध का ध्यान करता था। तब से वह चला। बीच-बीच में छोड़ा; बीच-बीच में हुआ। वह तो लम्बा इतिहास है। उसका वर्णन अभी नहीं कर रहा हूँ।

ध्यान-गुणदर्शन

ध्यान होता है, उसमें क्या होता है ? **'मकर कुण्डले तळपती श्रवणी'** (श्रवण में दीर्घ कुण्डल शोभा देते हैं) ऐसा ध्यान करना ? मैं वैसा नहीं करता। स्थूल वर्णन हरएक का होता है। वह मैं छोड़ देता हूँ। मुख्य लक्षण पहचानना चाहिए। भगवान् का वर्णन है कि उसकी छाती पर भक्तलांछन है।भृगु ने लात मारी थी, उसका वह चिह्न है। तो वहाँ क्षमा-गुण प्रकट होता है| श्रवण में दीर्घ कुंडल हैं, कहा। यानी दीर्घ कर्ण हैं। मतलब यह हुआ कि सत्पुरुषों की कथा सुनने के लिए कान खुले हैं। बड़ा कुंडल श्रवणतत्परता का लक्षण हुआ। भगवान् का नाम सुनने के लिए तत्पर। बुद्ध भगवान् के कान लम्बे थे। कहते हैं कि वे सतत श्रवण करते थे। ऐसे लम्बे कान इस जमाने में गांधीजी के थे। उनको भी सुनने की आदत थी। बहुतों का सुनते थे।

विठोबा की मूर्ति

विठोबा की मूर्ति का चिन्तन करते हुए भक्तों ने अलग-अलग प्रकार से वर्णन किया है। तुकाराम महाराज ने कहा : **'भक्तालागी न बैसे'**—भक्त के उद्धार की इतनी चिन्ता है कि वह बैठता ही नहीं। यानी भक्तोद्धार के लिए हमेशा तत्पर है। यह गुण भक्त-वात्सल्य है। ज्ञानदेव महाराज ने कहा : **'कटेवरी ठेवूनि हात। जना दावी संकेत'**—यह संसार-समुद्र गहरा नहीं, तैर जाना आसान है, डरने की बात नहीं, ऐसा आश्वासन दे रहा है। कमर पर हाथ रखा है, इसमें से निर्भयता, आश्वासन ये गुण निकले। फिर एक जगह तुकाराम ने कहा है : **'तटस्थ ते ध्यान'**—(तटस्थध्यान—तटस्थमूर्ति) । इसका क्या अर्थ ? भक्तों से कह रहा है कि जैसा करोगे, वैसा पाओगे, मैं तटस्थ हूँ। भगवान् की तटस्थ-वृत्ति उसमें से निकली।

मैंने जब विठोबा का ध्यान किया, तब मुझे लगा कि वह समाज की चौथी अवस्था है । समाज की पहली अवस्था यह थी कि दो मनुष्यों का झगड़ा हुआ, तो एक ने डण्डा लेकर दूसरे को पीटा। दूसरी अवस्था यह कि आपस में दण्ड नहीं करेंगे, बल्कि न्यायाधीश जो फैसला करेगा, वह माना जायगा। यानी दण्ड का अधिकार सरकार के हाथ दिया। उसके बाद तीसरी अवस्था में सरकार भी डण्डा छोड़ेगी। इसके लिए सरकार राजी होगी । सब शस्त्र भगवान् को समर्पण होंगे। भगवान् गदा-चक्र लेकर भक्तों

का, सज्जनों का रक्षण करेगा, सज्जनों को अपने नजदीक रखेगा, दुर्जनों का खण्डन करेगा। चौथी अवस्था आयेगी कि भगवान् भी शस्त्र-संन्यास लेगा। दण्ड नहीं देगा, क्षमा करेगा। विष्णु का यह अवतार (विठोबा) शस्त्र हाथ में लेता नहीं। उसका ध्यान करते हुए मेरे ध्यान में यह बात आयी। सार यह कि मूर्ति का ध्यान करते समय भी लक्ष्य यही रहता है कि उसमें से किसी गुण का दर्शन हो।

जैसे मूर्ति काम आती है, वैसे अवतार-पुरुषों के चित्र भी काम आते हैं। मेरी कोठरी में चित्र मैं पसन्द नहीं करता। स्थूलरूपेण पसन्द नहीं करता। लेकिन मानसिक रूप में पसन्द करता हूँ। उससे बाधा नहीं आती । ईसा का ध्यान प्रेम के प्रकर्ष का प्रतीकस्वरूप है । ईसा ने समाज के लिए अपना बलिदान दिया। क्रिस्ती लोग उसका ध्यान करते हैं। उससे ध्यान में आता है कि हमें दुनिया की सेवा में अपना बलिदान देना चाहिए। उसमें परमेश्वर के प्रेम का और परम त्याग का ध्यान हुआ।

मूर्ति का ध्यान हो या अवतार के चित्रों का ध्यान हो, उसमें गुणों का ध्यान होना चाहिए। अगर यह हुआ कि नाक का ही ध्यान हुआ कि कितनी सुन्दर नाक है, तो अगले जन्म में दो नाक मिलेंगी। ध्यान में रखने की चीज यह है कि आखिर गुण है, जो प्राप्त होगा।

प्रकाश द्वारा गुणचिन्तन

यह सब विषय 'ज्ञानदेव-चिन्तनिका' में आता है। इस विषय पर बेहतरीन पुस्तक यही है। उसमें हमने कुछ किया नहीं है। केवल अर्थ आज की भाषा में खोलकर रख दिया है । उस ग्रन्थ में प्रकाश का वर्णन मिलेगा। कहीं लाल, कहीं पीला, कहीं नीला। ध्यान में रंग का साक्षात्कार होता है। अलग-अलग रंग दिखते हैं| (काले रंग का वर्णन और कहीं नहीं मिलता। लेकिन चिन्तनिका में काले प्रकाश का भी वर्णन है। काला रंग ऐसा है कि दूसरा रंग उस पर चढ़ता नहीं।) यह भी गुणोपासना है। मनुष्य के कुछ संकेत हैं। हरएक समाज के अलग-अलग संकेत हैं। हमारे यहाँ लाल प्रेम का रंग है। किसी महापुरुष के दर्शन के लिए गये और लाल रंग का फल प्रसादरूप में मिला तो समझना चाहिए कि आपने आशीर्वाद पाया कि आपका हृदय प्रेम से भरे। सफेद फूल मिला तो हृदय निर्मल ज्ञानमय हो, ऐसा आशीर्वाद मिला। हरएक जमात में रंगों के साथ गुणों का आरोपण होता है। उसका ध्यान होता है। ध्यान के बाद

गौतम बुद्ध को सर्वत्र फैली हुई करुणा दीखी | वह भी कोई रंग होगा। ध्यान में कोई रंग दीखा होगा, जिसका अर्थ उन्होंने करुणा लिया होगा। तो वह गुणचिन्तन है। प्रकाश द्वारा गुणचिन्तन।

हमने यहाँ गंगा की मूर्ति का ध्यान किया। तब हमने कहा कि उसकी नजर में कारुण्य है, चेहरे पर प्रसन्नता है, वक्ष में वात्सल्य है, कमर में सामर्थ्य है। एकदम एक चित्र सामने खड़ा हुआ। पत्थर की मूर्ति से गुणों का समुच्चय प्राप्त हुआ। यह है ध्यान की प्रक्रिया । [पवनार, वर्धा, महाराष्ट्र; १५-७-'६५]

* * *

पिछले दो प्रवचनों में ध्यान के विषय में मैंने जितना कहा, उतने से समाधान मान सकते हैं। यद्यपि वह विषय व्यापक है । क्योंकि नित्य नया अनुभव आता जायगा और पुराने अनुभवों की पूर्ति होती जायगी। चलता विषय है, जारी रहेगा। और यही मैं समझा रहा था। ध्यान तो उसके अन्दर एक प्रकरण हुआ। लेकिन मुख्य यही समझा रहा था कि जैसे विज्ञान विकसित होता जा रहा है, आत्मज्ञान का विचार भी उत्तरोत्तर विकसित होनेवाला है । ये मेरे विचार कोई चन्द दिनों में बने हैं, ऐसी बात नहीं । स्थितप्रज्ञ-दर्शन में मैंने यह सूचित किया है। मैंने लिखा है कि स्थितप्रज्ञ का उत्तरोत्तर विकास होगा। यही दुरुस्त है। अन्यथा नये मनुष्य का जन्म पाना बेकार जायगा। अगर जो अनुभव आ चुके, वे पूर्ण या अन्तिम होंगे, तो मैं नहीं मानता कि नये जन्म पानेवाले के जीवन में स्फूर्ति होगी या जीवन-रस होगा। पूर्वजों के अनुभव का आधार लेना अच्छा है । लेकिन उन अनुभवों में अपने को सीमित करना या जकड़ लेना गलत है | उससे हम उन पर भी अन्याय करेंगे। उन्होंने जब अपने अनुभव प्रकट किये थे, तब यह अपेक्षा नहीं की थी कि लोग इसमें कैद हो जायँ। अगर वैसा डर उनको रहता तो शायद वे अपने अनुभव प्रकट न करते।

सृष्टि गुणात्मक है

मैंने कहा था कि ध्यान में गुणग्रहण करें, साररूपेण यह बात मुख्य है। फिर वह चाहे किसी महापुरुष का ध्यान हो, किसी अवतार का, मूर्ति का, किसी संकेत का या सृष्टि का भी ध्यान हो । इस बात को मैंने नये ढंग से रखा है । लेकिन चीज नयी नहीं है। क्योंकि सांख्यों ने सृष्टि त्रिगुणात्मक मानी। अब वह त्रि-गुणात्मक है, चार-गुणात्मक है या एक-गुणात्मक है, यह बात अलग है | कुछ अंश में वह

विषय विज्ञान का है और कुछ अंश में तार्किक वर्गीकरण का है। अगर दुनिया को पाँच गुणों में विभाजित करना है, तो किया जा सकता है। सात गुणों में विभाजित करना है, तो किया जा सकता है । सांख्यों ने तीन गुणों में विभाजित किया। उन्होंने उसका एक साइंस (शास्त्र) बनाया और फिर उसकी परिभाषा बनी। फिर भारत में यह तीनवाली परिभाषा बहुत चली। वैद्यशास्त्र में माना गया है कि कफ-वात-पित्त ये तीन गुण शरीर में हैं । हर शरीर में इन तीनों गुणों में से एक प्रधान होगा। तो सारा एक, जिसको शाब्दिक वर्गीकरण कहते हैं, वैसा हो जाता है। इसलिए तीन गुणों में सीमित रहना है या अधिक गुण मानना है। यह अलग विषय है। लेकिन दृष्टी गुणात्मक रहनी चाहिए, इतना उसका सार निकलता है, जो उपर्युक्त विचार के बहुत नजदीक आता है।

दुनिया गुणदोषमय है

हम जो भी दृश्य देखते हैं, मूर्ति देखते हैं, उसका चाहें तो विश्लेषण कर सकते हैं | पर क्या यह बता सकते हैं कि भय और निर्भयता, अहंकार और नम्रता इतने-इतने प्रमाण में मिलकर व्यक्ति बना ? मनुष्य के गुण-दोष का कोई फार्मूला (समीकरण) नहीं बना सकते। इतने प्रमाण में भय, इतने प्रमाण में निर्भयता, इतने प्रमाण में अहंकार और इतने प्रमाण में नम्रता मिलकर यह व्यक्ति बना, इस तरह प्रमाण निश्चित नहीं कर सकते। बाबा में अहंकार और नम्रता तीन और एक के प्रमाण में है, ऐसा नहीं कह सकते। लेकिन मान लेना चाहिए कि मनुष्य गुण-दोष का मिश्रण है, दोष छाया के समान है। वे गुणों की छाया हैं। एक दोष दूसरी परिस्थिति में दोष होगा। वे परिवर्तनीय (इंटरचेंजेबल) हैं। मनुष्य गुणदोषमय है। उस हालत में हमें यह कला सधनी चाहिए कि हम गुणों को खींच लें। अगर गुणों का ध्यान होगा, तो यह सध सकेगा। गुण ध्यान में ही न आये तो खींचेंगे कैसे ? इसलिए, ध्यान-प्रक्रिया बिल्कुल बुनियादी है। मनुष्य-पशु-पदार्थ को देखते ही गुण खींच लेना चाहिए।

एक किस्सा याद आता है। हमारे आश्रम में एक भैंस थी। वह गाय के बछड़े को भी दूध पिलाती थी। इसलिए किसीने उसको जड़ कहा। अक्सर भैंसें जड़ होती हैं, यह भैंस अपना-पराया भी पहचान नहीं सकती थी, इसलिए विशेष जड़ मानी गयी; जड़ता की परिसीमा हुई। लेकिन मैंने कहा कि मुझे इस भैंस के प्रति आदर है। मैं समझता हूँ कि यह समत्व की मूर्ति है, उसमें आप-पर-भेद नहीं है। तुकाराम महाराज ने एक जगह बताया है कि चित्त-शुद्धि सूक्ष्म होती है। अपना बच्चा देखकर जितना प्रेम होता

है, उतना दूसरों का बच्चा देखकर नहीं हुआ, तो समझना चाहिए कि चित्त-शुद्धि नहीं हुई। तुकाराम महाराज ने जो कसौटी की है, उसमें वह भैंस पास हो गयी । अपनी जाति और दूसरी जाति, यह खयाल उसमें नहीं था। हो सकता है, वह कोई पुरानी ऋषि हो और शापवशात् भैंस हुई हो। लेकिन पुराना गुण उसमें पड़ा है। उस भैंस को मैं भूलता नहीं। ऐसी मिसाल मनुष्य में भी मुश्किल से मिलेगी। अब उसमें जड़ता थी कि समता ? दोनों सम्भवनीय हैं। हम दूसरों के गुणों का अनुभव तो नहीं कर सकते हैं। अपने गुणों का अनुभव कर सकते हैं। दूसरों के गुणों का अनुमान कर सकते हैं। भैंस का यह वर्तन दोषरूप भी है और गुणरूप भी है। लेकिन यह मिसाल मैंने इसलिए दी कि हरएक की वृत्ति और कृति गुणदोषमय है।

ऋषि का दर्शन

यह समझने की बात है कि सृष्टि में जो आकृतियाँ होती हैं, वे भी गुणदोषमय होती हैं। कोई उत्तम उद्यान है। सुन्दन पुष्पवाटिका है, जहाँ ठीक ढंग से वृक्षों की काट-छाँट हुई है, ठीक फासले पर वृक्ष लगाये हैं, तो वह देखकर मनुष्य को आनन्द होता है। कोई घना जंगल हो, टेढ़ा-मेढ़ा, तो वह देखकर भी मनुष्य को आनन्द होता है। उसको दोनों में सौन्दर्य दीखता है। उद्यान और जंगल एक-दूसरे के विरोधी हैं, तो दोनों में सौन्दर्य का अनुभव क्यों आया ? क्योंकि भगवान् का एक गुण उसमें और एक गुण उसमें प्रकट हुआ। उसमें स्वच्छन्दता है, स्वातंत्र्य है। जिस पेड़ को जिधर बढ़ने की इच्छा है, उधर बढ़ा। तो पूर्ण स्वातंत्र्य का, सहजता का गुण उसमें है और इधर व्यवस्थितता है, समता है। यह भी गुण, वह भी गुण। यह देखकर भी आनन्द, वह देखकर भी आनन्द। सामवेद का एक मंत्र मैं बहुत दफा गाया करता हूँ :

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्य:
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्त: शिशिर इन्नु रन्त्य:।

उसका तर्जुमा मैंने हिन्दी में किया :

वसन्त रमणीय है, ग्रीष्म रमणीय है
वर्षा-शरद-हेमन्त-शिशिर रमणीय हैं

ऋषि का दर्शन है। उसको छह ऋतु सब-के-सब रमणीय मालूम होते हैं। हम अक्सर कहते हैं—वसन्त रमणीय है, ग्रीष्म तकलीफदेह है, हेमन्त ठीक है, वर्षा ठीक नहीं। लेकिन ऋषि को सब ऋतु रमणीय, प्रसन्न मालूम हुए। क्योंकि उसने हरएक का एक-एक गुण ले लिया।

बचपन में हमने 'बालमित्र' नाम की एक पत्रिका पढ़ी थी। उसमें एक कहानी थी। मुन्ना बगीचे में गया। वहाँ सुन्दर फूल खिले थे। मुन्ना को बहुत आनन्द हुआ। वह कहने लगा, हमेशा यदि वसन्त ऋतु रहे। बाप ने कहा—बेटा ! यह बात तुम अपनी कापी में लिख रखो। ठण्ड के दिन आये। मुन्ना गेहूँ की बाली खाने के लिए खेत में गया। उसने कहा—हमेशा गेहूँ की बाली खाने को मिले, तो कैसा आनन्द होगा। बाप ने कहा—बेटा ! यह बात तुम अपनी कापी में लिख रखो। इस तरह मुन्ना हर ऋतु के बारे में कहता रहा। 'बालमित्र' एक फ्रेंच किताब का तर्जुमा है। सामवेद के मंत्र के समान वह कहानी थी। हर ऋतु में गुण पड़े हैं। हमें उस ऋतु के लायक बनना चाहिए और गुण खींचना चाहिए।

गुणचुम्बक-शक्ति = ध्यान-शक्ति

इस तरह दुनिया गुणदोषमय है। उसमें से गुण खींचना है। जमीन पर अनेक प्रकार के कण पड़े हैं। उनमें लोहे के कण हैं। लौहचुम्बक लोहे के कणों को खींच लेगा। उसी तरह गुणचुम्बक गुण को खींचेगा।

लेकिन गुण क्या और दोष क्या, यह भी सवाल है। आप जिस चीज को मैला—गंदा कहेंगे, वह चीज मक्खी को पसन्द आयेगी। उसके लिए उससे बेहतरीन खुराक नहीं होगी। तो इसमें मतभेद होगा। आपकी अनुकूलता-प्रतिकूलता के कारण आप एक को गुण मानेंगे, एक को दोष। दुनिया के ख्यालात में कौन-सा गुण और कौन-सा दोष है, यह तय नहीं हो सकता। इसलिए आप जो गुण चाहते हैं वह खींच लेना चोहिए। वह खींचने की शक्ति आ गयी, तो समझना चाहिए कि ध्यान-शक्ति आ गयी, अन्यथा आप चाहे सिद्धासन लगाकर बैठें, चाहे आँखें बन्द कर बैठें, वह ध्यान-शक्ति नहीं होगी। वस्तुमात्र से गुण खींचने की शक्ति आयेगी, तभी ध्यान-शक्ति प्राप्त होगी। [पवनार, वर्धा, महाराष्ट्र; १६-७-'६५]

एक सवाल पूछा गया है कि आपने ध्यान का अर्थ सर्वत्र गुणचिन्तन बताया। वह ठीक है। लेकिन भागवत में है कि गोपिका दही बेचने निकली और 'दही लो जी, दही,' के बदले 'गोविन्द लो जी, गोविन्द' बोल गयी। इस प्रकार सर्वत्र हरिदर्शन करें, क्या ध्यान का यह प्रयोग ठीक होगा ?

बात तो ठीक है। लेकिन यह सवाल पूछा जायगा कि 'गोविन्द' कौन ? फलाने का बाप ? फलाने का बेटा ? फलाने का भाई ? उत्तर मिलेगा = **'सत्य-प्रेममय नारायण करुणामय।'** कौन नारायण करुणामय ? एक अव्यक्त मूर्ति। गुणमय। और उसके गुणों का एक-एक अंश एक-एक को प्राप्त है—थोड़ा हमें, थोड़ा औरों को । किसीको प्रेम का अंश, किसीको सत्य का अंश बाँटा है। इसलिए नाम भले गोविन्द हो, लेकिन उसका अर्थ है करुणामय परमेश्वर। मतलब, वह गुण ही होता है।

हरएक में हम भगवान् को देखें, इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ हरएक का गुण-ग्रहण होना चाहिए। तो फिर भगवान् का ग्रहण नहीं हुआ, तो और क्या हुआ ? आज ही कुछ लोगों की मुझसे बातें हो रही थीं कि आपस में दिल नहीं खुला। इसके सामने चोरी, उसके सामने चोरी। मतलब, हम चोर हैं ? सारा छिपा हुआ मामला। क्यों नहीं खुलता है दिल ? क्योंकि खतरा मालूम होता है। अगर सामनेवाले में गोविन्द का दर्शन हुआ, तो उसका अर्थ यह है कि सामनेवाले में गुण का दर्शन हुआ। फिर वहाँ खतरा मालूम नहीं होगा, दिल खुल जायगा। भक्त का लक्षण है—**'आपण व्हावे एकीकडे, देव कलेवरीं जोडे'**—हम इस शरीर को खाली कर दें, तो भगवान् उसमें रहेगा। शरीर में हम ही खचाखच भरे रहेंगे, तो उस हालत में भगवान् को जगह नहीं रहेगी। सर्वत्र गोविन्द-दर्शन का अर्थ है सर्वत्र प्रेम भरा है, करुणा भरी है, उसका दर्शन। चीज पड़ी है। वह पाने के लिए अपने को खाली करना पड़ेगा। बापू कहा करते थे कि हमें 'शून्य बनना' है। कठिन है। अच्छा है वह शब्द भी। लेकिन मुझे 'खाली करो' शब्द विशेष अर्थ प्रकाशित करता है। खाली करो, मन्दिर खोलो, तो हरएक का गुण-ग्रहण होगा।

गुण-दोष दोनों होते हैं। दोष माया का है, गुण भगवान् का। आँख को माया एकदम दीखती है। इन्द्रियाँ हैं, वे स्वभावत: विषयाभिमुख हैं।

आँख खुल गयी, तो बाहर का विषय एकदम अन्दर पैठ गया। अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। इसलिए इन्द्रियों से जो ज्ञान मिलता है, उससे सावधान रहना चाहिए। वह सच्चा ज्ञान नहीं है । वह

आकार का ज्ञान है। हम कहते हैं कि हमने फलाने को देखा। यह गलत है। हमने देखा, उस आकृति को देखा, मनुष्य तो अव्यक्त है। उसको हम नहीं देख सकते और आँखों से जो देखा जाता है, उसके कारण हमारे अभिप्राय बनते हैं । इसलिए सर्वत्र गुण देखने का प्रयत्न करेंगे, तो गुणमय भगवान् दीखने लगेगा। भगवान् गुणमय है। **'मी गुणसम्पन्न, हेचि लक्षण'**—मैं गुण-सम्पन्न हूँ, यही लक्षण है । उनका लक्षण ही यह है। इसलिए जिन्होंने ध्यान किया कि सर्वत्र गोविन्द है, उन्होंने सर्वत्र गुनमय, मंगलमय दर्शन किया, ऐसा अर्थ होगा।

उस मंगलमय दर्शन की खूबी यह है कि उससे परिवर्तन होता है। वह चीज हृदय को छूती है। एक बच्चा हम पर अत्यन्त विश्वास रखकर हमारे पास आ जाय, तो हम उसको ठग नहीं सकते। बच्चे को ठगने की प्रेरणा सामान्यतया नहीं होती, क्योंकि वह पूरी श्रद्धा रखकर आता है। फिर भी कुछ लोग बच्चों को भी ठगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि बच्चों का पूर्ण श्रद्धावान् होना ज्ञानमूलक नहीं, अज्ञानमूलक है। इसलिए तुकाराम ने कहा है : **'जाणोनी नेणतें करीं माझें मन'**—मेरे मन को ज्ञानी करके अज्ञानी कर यानी ज्ञानपूर्वक अज्ञान। अगर ऐसा हो कि पूर्ण श्रद्धा ज्ञाममूलक है, तो कोई ठग नहीं सकता। फिर कोई ठगे, यह असम्भव बात है। मेरा विश्वास है कि ऐसी श्रद्धा बनी रहे, तो चित्त पर भार नहीं रहेगा और उससे हम जितना चाहते हैं, उससे कई गुना ज्यादा परिणाम आयेगा। [पवनार, वर्धा, महाराष्ट्र; १७-७-'६५]

प्रश्न : निःस्वप्न निद्रा के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर : यह जरा कठिन मामला है। स्वप्नों के अनेक कारण हैं। कुछ शारीरिक हैं, कुछ मानसिक हैं। कुछ पूर्वजन्म के यानी अपने काबू के बाहर के भी हैं। कई बार मामूली, छोटे-छोटे कारणों से स्वप्न आते हैं। आप सोये हैं और ओढ़ने की चादर आपकी नाक तक आ गयी। आपको स्वप्न आया कि आप एक बड़ी गुहा में प्रवेश कर रहे हैं, शरीर तो अन्दर चला गया, सिर अन्दर जा नहीं रहा है, गला घुट रहा है। इतनी छोटी-सी घटना का विकराल रूप हो गया। बिल्कुल छोटे-से कारण से भी स्वप्न आ सकता है। अन्दर जो मन है, वह बेचारा बिल्कुल बच्चे की हालत में है। बुद्धि का जाब्ता नहीं। और उस हालत में वह कवि है और तरह-तरह की कविताएँ बनाता है, जो हमें स्वप्न में दिखायी देती हैं।

फिर शारीरिक बीमारियों के कारण भी स्वप्न आता है। पेट दुखता है, तो स्वप्न आ सकता है। रात को सोने के पहले किसीसे बातचीत हुई, या सिनेमा देखकर सो गये, तो निद्रा में स्वप्न आयेगा। शारीरिक, मानसिक, अनेक प्रकार के किये हुए व्यवहार स्वप्न में आते हैं। मेरा ख्याल है कि कुछ पूर्वजन्म के भी परिणाम होते हैं । ऐसे अनेक कारणों से स्वप्न आते हैं । उनमें से एक-एक कारण हटेगा, तो उतना स्वप्न पर काबू आयेगा। इस पर हमने वर्षों तक चिन्तन किया है।

स्वप्न से जाग गये और स्वप्न पर काबू पा लिया, तो वह पर्याप्त नहीं है। एक साधु थे। एक बार उनको बहुत बुखार आया, डिलेरियम—वात-प्रकोप हुआ। उसमें एक दिन ऐसी गालियाँ बकने लगे, जिसकी उनको खुद को और दूसरों को कल्पना नहीं थी। बाद में उनसे पूछा गया तो उन्हें उसका पता नहीं था, कुछ भास भी नहीं था। समझना चाहिए कि उन्होंने जागृत-काल में अपने पर काबू पाया है । उनके प्रति आदर उचित है। लेकिन बारीक वासना पर काबू नहीं है। इस वास्ते मन पर काबू पाना बहुत जरूरी है।

इसका एक उपाय हरिश्चन्द्र ने किया। उसने क्या किया ? स्वप्न में विश्वामित्र को राज्य का दान दिया और जागृति में उसको सच्चा किया। यह उसने अपने स्वप्न पर काबू पाने के लिए किया। उसने सोचा कि अगर मैं सत्यनिष्ठ हूँ, तो मुझे मिथ्या स्वप्न क्यों आने चाहिए ? स्वप्न में अगर दान किया, तो दे ही दिया। ऐसा सोचकर उसने जागृत में उसको पूरा किया।

स्वप्न की बात इतनी है कि उसमें अनेक फैक्टर (कारणीभूत पहलू) दाखिल होते हैं। आलस्य के कारण भी स्वप्न आते हैं । कुछ लोग आलस्य के कारण नींद में पड़े रहते हैं। उस स्थिति में न पूरी जागृति रहती है, न पूरी निद्रा रहती है। निद्रा से जागृति में आने में ही घण्टा-डेढ़ घण्टा चला जाता है। इसमें भी आलस्य नहीं होना चाहिए। सोने के लिए लेटे, तो एकदम निद्रा आनी चाहिए और निद्रा पूरी होते ही एकदम जागृति आनी चाहिए। बीच की अवस्था अच्छी नहीं है। गाढ़ निद्रा भी नहीं और जागृति भी नहीं, तो स्वप्न आते हैं। भोजन में अनियमितता और खाने के परिमाण की अनियमितता, इनके कारण भी स्वप्न आता है।

सोने की हरएक की अपनी आदतें होती हैं। लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि उत्तर-रात्रि में सोने की अपेक्षा पूर्व-रात्रि में सोने वालों की ताकत दुगुनी होती है। पूर्व रात्रि में सोने से जितनी शक्ति और आराम मिलता है, उतना उत्तर-रात्रि में सोने से नहीं मिलता। नरसिंह मेहता का एक भजन—**रात ज्यारे रहे पाछली खटघड़ी साधु पुरुषने सूई न रहेवुं।** सूर्योदय छह बजे होता हो, तो खटघड़ी यानी छह घटिका पहले उठना चाहिए। घटिका यानी २४ मिनट। तमिलनाड में 'वैकरे याम' में, दस घटिका पहले, यानी दो बजे उठने का रिवाज था। मनु सूर्योदय के दो घटिका पहले, करीब ५ बजे उठने के लिए कहता है। उसका ब्राह्म मुहूर्त नाम दिया। मनु ने यह बात पूरे राष्ट्र के लिए कही है।

बापू का सुबह ४ बजे उठना पक्का था। सोने में भले ही देर हो जाय। बापू का बाकी सब नियमित था, सोना नहीं। लेकिन उनके पास एक शक्ति थी। बीच में कभी पाँच मिनट का भी समय मिल गया, तो उसमें ही वे सो लेते थे।

निद्रा एक समाधि है। समाधि का कार्य गाढ़ निद्रा से होता है। उसके लिए एक उपाय है। सोने से पहले जितनी अच्छी तैयारी होनी चाहिए, उतनी करके नाम-स्मरण करते-करते सो जायँ। अगर नींद न आयी, तो नाम-स्मरण चलता रहेगा। उसमें अपना क्या बिगड़ता है ? उसका चित्त पर असर पड़ेगा और स्वप्न नहीं आयेगा। [मैत्री, अगस्त '६७]

४. विज्ञान

१. विज्ञान की माँग

विज्ञान क्या है ?

विज्ञान वह है, जो सृष्टि में, प्रकृति में जो कर्म चलते हैं, उनके कानून का शोध करता है। पानी, हवा आदि पदार्थों के क्या-क्या धर्म हैं, ये किस तरह काम करते हैं, उनका नियम या व्यवस्था क्या है—इत्यादि बातों की वह चर्चा करता है। [कामरूप, असम; २५-७-'६२]

ज्ञान अर्थात् बुद्धि से जानना; विज्ञान अर्थात् जीवन में अनुभव करना। ज्ञान के अनन्तर उस ज्ञान को आचरण से, कृति से आत्मसात् कर लेने पर उसीका विज्ञान होता है। ज्ञान + कर्ता = विज्ञाता। [ईशावास्य-वृत्ति, मंत्र ६ का अंश]

तत्त्वज्ञान विज्ञान से भिन्न है। तत्त्वज्ञानी वे हैं, जो सृष्टि-रचना की चर्चा करते हैं। आत्मा कया है, परमात्मा क्या है, इनका स्वरूप क्या है, सृष्टि की रचना कैसी है, इन सबका परस्पर सम्बन्ध क्या है, ईश्वर और जीव का क्या स्वरूप है—ये सारी चर्चाएँ तत्त्वज्ञान करता है। [कामरूप, असम; २५-७-'६२]

'क्यों' को तत्त्वज्ञान हल करता है और 'कैसे' का उत्तर विज्ञान देता है। [स्थितप्रज्ञ-दर्शन (पृष्ठ २)]

मानव और अन्य प्राणियों में अन्तर

मानव एक प्राणी है, किन्तु उसमें और अन्य प्राणियों में आज तक कुछ-न-कुछ फर्क रहा है। आखिर वह फर्क क्या है ?

दूसरे प्राणी प्राणप्रधान हैं, जब कि मानव मन:प्रधान। वैसे मानव में प्राण हैं और मन भी, किन्तु प्रधान मन ही है। प्राणी हलचल करता है, तो खूब जोर से दौड़ता है। वह हमला करता है, तो भी जोर से। उस हमले में मन नहीं, प्राण प्रधान है। एक कुत्ता दूसरे कुत्ते पर प्रेम से टूट पड़ता है और द्वेष से भी। प्रेम से टूट पड़े तो सहजभाव से पड़ता है। उसकी प्रेरणा प्राण-प्रेरणा है। प्राणी उछलता-कूदता, हमला

करता या टूट पड़ता है—यह सारी प्राण-प्रक्रिया है। इन कार्यों में उसे चोट आने पर भी वह उसकी परवाह नहीं करता।

बच्चे भी इसी तरह करते हैं। बचपन में खेलते-खेलते पत्थर फेंक देते हैं। खास किसी चीज पर नहीं फेंकते। फेंकने की वृत्ति हुई, इसलिए फेंक देते हैं। उनका खेल एक प्राण-वृत्ति है। लेकिन उसका पत्थर किसीको लगता और खून बहता है, तो वह एक घटना हो जाती है। उसका मानसिक असर भी होता है, क्योंकि बच्चे को भी मन होता है। इस तरह स्पष्ट है कि हमें भी प्राण की प्रेरणा होती है, परन्तु वह प्राणप्रधान नहीं, मन:प्रधान होती है। छोटे-छोटे जन्तु देखते हैं, तरह-तरह की क्रियाएँ, हलचल करते हैं। उनमें सूक्ष्म मन नहीं होता, ऐसी बात नहीं। फिर भी मुख्य वस्तु प्राण है और मनुष्य में मुख्य वस्तु मन है। भावना, वासना, कामना, प्रेरणा, आशा, निराशा आदि की जो प्रक्रियाएँ हैं, वे सारी मानसिक वृत्तियाँ मनुष्य में काम करती हैं। डर, हिम्मत, अभिमान, मानापमान, प्रेम, आसक्ति, द्वेष, तिरस्कार, नफरत ये सब मानव की मनोवृत्तियों का खेल है।

विज्ञान मानसशास्त्र नहीं जानता

इस तरह प्राणी की प्राणभूमिका है और मानव की मनोभूमिका। किन्तु अब विज्ञान मानव से कहता है कि तुम्हारी मनोभूमिका नहीं चलेगी। अब तुम्हें विज्ञान-भूमिका पर आना होगा। यानी जिसे हम मानसशास्त्र कहते हैं, वह सारा-का सारा बिलकुल निकम्मा हो जायगा। विज्ञान मानसशास्त्र को नहीं पहचानता। ऊपर से एटम बम गिरता है। वह सोचता ही नहीं कि नीचे जो मनुष्य हैं, उनमें कौन गुनहगार है और कौन निर्दोष। एटम बम गिरेगा, तो मानव, पशु, सब खतम हो जायेंगे। मानवों में भी अच्छे-बुरे का कोई फर्क न किया जायगा। बाढ़ आने पर नदी महापुरुष, अल्पपुरुष, जानवर या लकड़ी, जो भी सामने हो, सब बहाकर ले जाती है। जैसे नदी मानसशास्त्र से परे है, वैसे ही विज्ञान मानसशास्त्र से परे है।

आज के मानव की वैज्ञानिक प्रगति

जिस अणु से यह सारी दुनिया, सारी सृष्टि बनी है, वह सारी शक्ति आज मनुष्य के हाथ में आ गयी है। जिस अणु-शक्ति के बिखरने से दुनिया का लय हो सकता है वह शक्ति मनुष्य के हाथ आ गयी

है। अणु के साथ अपु जुड़ जाने से सृष्टि बनती है और सारे अणु अलग-अलग होने पर सृष्टि का प्रलय होता है। इस तरह सृष्टि उत्पादन और सृष्टिसंहारक अणु-शक्ति आज मनुष्य के हाथ में आयी है।

इतना ही नहीं, मानव ने आसमान में नये उपग्रह फेंके हैं, जो पृथ्वी के इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। यह एक अजीब बात है। यानी इसके आगे केवल अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन से नहीं चलेगा। अन्तर्गोलीय चिन्तन, अन्तर्जागतिक चिन्तन की जरूरत पड़ेगी। अगर मनुष्य मानसिक भूमिका पर रहकर यह सारा करेगा, तो कैसे चलेगा ? मान लीजिये, मुझे किसीके प्रति प्रेम है और किसीके प्रति द्वेष। हम तीनों एक ही बाढ़ में बह रहे हैं। तीनों तैरना नहीं जानते, तो यह भी डूबनेवाला है, वह भी और मैं भी। प्रेम भी डूबनेवाला है और द्वेष भी। इसलिए जहाँ आप बाढ़ में बहते हैं, वहाँ न प्रेम आपके काम आयेगा और न द्वेष। इस तरह आज जो मानव के हाथ में शक्ति आयी है, उसमें बाढ़ आ गयी है। वह है सृष्टि की शक्ति। उस सृष्टि की शक्ति में आपका मन काम नहीं करेगा।

हमारी अर्हता

आज आप उस हैसियत में आ गये हैं, जिस हैसियत में स्वयं भगवान् हैं। आखिर सृष्टि की उत्पत्ति और लय कौन करता है ? भगवान् ही न ? आज तो सृष्टि की उत्पत्ति और लय मनुष्य भी कर सकता है। मनुष्य एक छोटा-सा भगवान् ही बन गया है। अब भगवान् मन से काम नहीं करेगा, मन के ऊपर रहेगा। राग, द्वेष, आसक्ति आदि मन में ही रहते हैं। अगर उसके अन्दर हमारा यह छोटा-सा मन रहा, तो बड़ी हानि होगी। भगवान् अगर मनुष्य के मन से काम करेगा, तो बड़ी भयानक बात होगी। अगर मनुष्य में गधे का मन काम करे, यानी मनुष्य-शक्ति के साथ गधे का मन हो, तो क्या हालत होगी ?

विज्ञान के कारण मनुष्य के राग-द्वेष के परिणाम अत्यन्त तीव्र हो सकते हैं । इसलिए मनुष्य जब राग-द्वेषरहित होगा, तभी वह विज्ञान-शक्ति उसके काम आयेगी, जो आज उसके हाथ लगी है। इसलिए आज के मानव की समस्या उसके मानसशास्त्र में थोड़ा-सा फर्क करने की नहीं, पुराना सारा मानसशास्त्र खतम करने की है। पुराने मानसशास्त्र के बीस अध्याय हों, तो उसमें इक्कीसवाँ अध्याय जोड़ देने से काम न चलेगा। पुराने मानसशास्त्र के सभी ग्रन्थों की होली जलानी होगी। पुराना सारा जीवन—राग-द्वेष, मानापमान, रीति-रिवाज, प्रथाएँ सब कुछ पटक देना पड़ेगा।

विज्ञान पहले से ही मन से ऊपर

विज्ञान की भूमिका मन के ऊपर की भूमिका है | विज्ञान आपको अपनी इसी भूमिका से ऊँचा उठने को मजबूर कर रहा है। पहले के जमाने में भी यह मालूम था कि विज्ञान की भूमिका मन से ऊपर की भूमिका है। उपनिषदों में कहा गया है : **'प्राणो ब्रह्मेति'**। फिर कहा है : **'मनो ब्रह्मेति'**। उसके बाद **'विज्ञानं ब्रह्मेति'**। प्राण की भूमिका प्राणियों की है, मन की भूमिका मनुष्यों की और विज्ञान की भूमिका ऋषियों की है। इस तरह उस जमाने में विज्ञान मालूम तो था, किन्तु उसकी मानव पर जबर्दस्ती नहीं थी। वैयक्तिक विकास के तौर पर कोई मनुष्य अपना विकास करते-करते विज्ञान की भूमिका पर पहुँच जाता था। लेकिन वह सारा व्यक्तिगत विकास का विचार था।

अब कोई महापुरुष ऐच्छिक तौर पर विज्ञान की भूमिका प्राप्त करे, यह इस जमाने में नहीं चलेगा। बल्कि अनिवार्यत: सभी लोगों को विज्ञान की भूमिका पर आने का नाटक रचना होगा। मैं झूठा मनुष्य हूँ, लेकिन नाटक में मुझे हरिश्चन्द्र का पार्ट मिला है। मैं वहाँ अपना झूठ याद करूँ, तो हरिश्चन्द्र की भूमिका कैसे निभेगी ? जैसे हरिश्चन्द्र की भूमिका अभिनीत करने के लिए अपना झूठ भूलना पड़ता है, बैसे ही विज्ञान-युग में हम सब लोगों को अपनी मनोभूमिकाएँ भूल जानी होंगी। अत: आज के युग में हमें विज्ञान की भूमिका पर जबर्दस्ती जाना पड़ेगा। [धारवाड, मैसूर; ३१-१-'५८]

मन गौण : विज्ञान-आत्मज्ञान की दृष्टि में

बापू की आदत थी कि किन्हीं दो मनुष्यों के बीच झगड़ा होने पर दोनों को पास बुलाते और घण्टों उनके स्तर पर उतरकर बातें करते थे। इसमें कहीं वे सफल हुए और कहीं नहीं भी। वह भी एक तरीका है, पर वह समर्थ नहीं । वह व्यक्तिगत तरीका है और विज्ञान के युग के लिए ऐसा व्यक्तिगत तरीका समर्थ नहीं हो सकता। वह मानसिक युग का तरीका है । आगे विज्ञान का युग आ रहा है । उसमें 'आब्जेक्टिव' (सत्य) प्रधान है । किसके मन में क्या है, इसका कोई महत्त्व नहीं । विज्ञान सृष्टि के सामने मन को गौण समझता है और आत्मज्ञान भी उसे गौण ही मानता है। दोनों मन को गौण मानते हैं। आध्यात्मिकता कहती है कि मन का उन्मन बनना चाहिए। विज्ञान भी यही करता है। ऐसी स्थिति में किसीमें मनोमालिन्य आ जाय, तो क्या कहना चाहिए ? कहना होगा कि उस स्थिति में उपेक्षा से ही

काम सधेगा । अभी हमने उपेक्षा की शक्ति पहचानी नहीं है। मन की भूमिका से ऊपर उठकर सोचेंगे; तभी काम होगा।

अरविन्द का अतिमानस-दर्शन

इसलिए श्री अरविन्द 'सुप्रामेंटल' की बात करते थे। उनके मत से ऊपर जाकर परमेश्वर-दर्शन और परमेश्वर-स्पर्श के अमृतपान से परितुष्ट होकर मन उन्मन हो जाता है और उसके बाद वह नीचे आता है। इसीको अवतरण कहते हैं। मुक्ति हो गयी तो समाप्ति हो गयी, ऐसा वे नहीं मानते। श्री अरविन्द कहते हैं—मुक्ति के बाद—मन उन्मन होने के बाद—फिर से कार्यक्रम शुरू होता है। वह भूमिका अतिमानस की भूमिका है। उसको वे 'अवतार' कहते हैं।

अभी तक यही ख्याल था कि मुक्त होने के बाद कोई शख्स नीचे उतरना चाहे, तो उतर सकता है और न उतरना चाहे, तो मुक्ति में लीन हो जायगा। किन्तु श्री अरविन्द का ख्याल है कि वह गौण चीज है। शंकर आदि कहते हैं कि मुक्ति प्राप्त कर लौट मत आओ। लेकिन श्री अरविन्द की दृष्टि से मुक्ति विश्व की सेवा करने का एक अवसर प्राप्त करना है। जब तक मुक्ति नहीं मिलती, तब तक विश्व की सेवा नहीं कर सकते। मुक्ति पाये बिना सेवा करने जायेंगे, तो सम्भव है, सेवा न होकर और ही कुछ हो जाय।

इसी तरह अगर हमें समाज-परिवर्तन करना है, हृदय-परिवर्तन करना है, तो अपने से पूछना होगा कि क्या हममें वह ताकत है ? वह ताकत प्राप्त करने के लिए पहले मुक्ति प्राप्त करनी होगी | पर उतने से ही बात खतम नहीं होती। परमेश्वर के पास जाकर वह 'सुप्रामेंटल' तक पहुँच जायगा। फिर उस स्थिति में आकर, इस दुनिया में अवतार लेकर सारे विश्व में अपनी इच्छित शक्तियों से विचार फैलायेगा और सबके जीवन में परिवर्तन लायेगा। क्योंकि हमें कुल समाज को दिव्य रूप देना है।

मानसिक भूमिका से तो ऊपर उठिये !

यह तो एक विशाल दर्शन है । अभी हम ऊपर जाकर फिर अवतार लें, ऐसी आकांक्षा न रखें। अगर इतना बड़ा काम न कर सकेंगे, तो भी हमें मानसिक भूमिका से तो ऊपर उठना ही चाहिए। नहीं तो समाज में से झगड़े मिटेंगे ही नहीं और उस घर्षण को कम करने के लिए सदैव तेल डालते रहना पड़ेगा। वास्तव में वह यन्त्र ही ऐसा हो जाना चाहिए कि उसमें घर्षण न हो, तेल की जरूरत न हो। इस

शरीर में ढील नहीं है, तो भी हड्डी एक-दूसरे से टकराती नहीं। इनकी योजना ही ऐसी है कि घर्षण न हो। यह सारी व्यवस्था होती है। क्योंकि वहाँ प्रेमशक्ति काम करती है। पैर में तकलीफ होती है, तो हाथ तुरंत सेवा करने लगता है। शरीर के अन्तर्गत जो प्रेमशक्ति है, उसीके कारण शरीर के अवयवों में घर्षण नहीं होता और उनसे अभीष्ट काम लिया जा सकता है। इस तरह समाज की भी यन्त्र-रचना हो जाय, तो तेल की डिब्बी की जरूरत नहीं रहेगी।

अभी मैंने अरविन्द के विचार रखे। ऐसे महान्-महान् लोगों के विचार जानने चाहिए। दुनिया के विचारकों के विषय में हम कुछ न जानें, यह ठीक नहीं है। विचारों में नवीनता क्या है, लोगों पर उनका क्या असर है, उनसे हम कया ले सकते हैं—यह सब जानना चाहिए। [पाण्डवपुर, मैसूर; ३०-९-'५७]

२. विज्ञान-युग के तीन कर्तव्य

पूछा जाता है कि अगर विज्ञान बढ़ता ही रहा, तो कया उससे दुनिया का भला होगा ? विज्ञान जिस तरह बढ़ता रहा है, उसी तरह बढ़ता रहे, क्या यह उचित है ?

विज्ञान की उन्नति का यत्न प्राचीनतम

विज्ञान इन्हीं दिनों बढ़ रहा है, ऐसी बात नहीं। मनुष्य जब से पैदा हुआ, तभी से विज्ञान के लिए प्रयत्न करता आया है । रेडियो प्रकट हुआ, तो हमें लगा कि यह बड़ी भारी खोज हुई, विज्ञान आगे बढ़ा। लेकिन इससे भी बड़ी-बड़ी उन्नति विज्ञान ने पहले के जमाने में की है । पुराने जमाने में लोगों ने जो प्रयोग किये, उन्हींके आधार पर आज का विज्ञान चल रहा है। अग्नि पैदा करना पहले के लोग नहीं जानते थे। उसके बाद जब अग्नि की खोज हुई, तो जीवन में कितना फर्क करना पड़ा होगा ? अब जरा सोचिये कि आपके घर में जो अग्नि है, वह दस-पाँच दिन प्राप्त न हो, तो आपकी हालत क्या होगी ? सबसे पहले तो हम लोगों के घरों की रसोई ही बन्द हो जायगी। फिर ठंड से ठिठुरने लगेंगे। अग्नि के आधार पर कितनी ही वनस्पतियों की दवाएँ बनती हैं, वे कैसे बनेंगी ?

इसके भी पहले एक जमाना ऐसा था, जब कि केवल पत्थरों से ही लोग अपने औजार बनाते थे। उनके पास लोहा नहीं था। उसके बाद जब लोहे की खोज हुई, तो जीवन में कितना परिवर्तन हुआ होगा ? जरा सोचिये, अगर दस दिन के लिए लोहे का बहिष्कार कर दें, तो क्या-क्या परिवर्तन होंगे ?

पेन्सिल छीलने के लिए चाकू नहीं मिलेगा, कपड़े सीने के लिए सूई न मिलेगी, काटने के लिए कैंची नहीं मिलेगी, किसान को हल के लिए फाल नहीं मिलेगा और खोदने के लिए कुदाली नहीं मिलेगी, फावड़ा नहीं मिलेगा। किस तरह आपका काम चलेगा ? ये जो नये-नये औजार बनते हैं, वे भी लोहे के आधार पर बनते हैं। लकड़ी का काम बनता है, लेकिन छीलने का काम बिना लोहे के नहीं बनता। इसलिए लोहा जब हासिल हुआ होगा, तो लोगों के जीवन में कितना परिवर्तन हुआ होगा !

पहले लोग गाय का दूध दुहना नहीं जानते थे। शिकार करके प्राणियों को खाते थे। लेकिन जिस किसीको यह अक्ल सूझी कि गाय पर हम प्यार कर सकते हैं, उसे कुछ खिला सकते हैं और उसके स्तनों से दूध ले सकते हैं, उसने कितना भारी शोध किया होगा ? मतलब यह कि खेती की खोज, गो-रक्षा की खोज, अग्नि की खोज, कपास से कपड़ा बनाने की खोज—कितनी ही खोजें पहले की गयीं।

विज्ञान की महत्ता

पहले भाषा की शक्ति का आविष्कार हुआ । उसके बाद हम आज एटम तक पहुँच गये हैं। अणुशक्ति से भी कई प्रकार के कारखाने चलेंगे। विकेन्द्रित उद्योग भी गाँव-गाँव चलाये जा सकेंगे। इस तरह विज्ञान प्राचीन काल से आज तक लगातार बढ़ता आया है, बढ़ेगा और बढ़ना चाहिए; उससे मानव-जीवन में सुन्दरता आयेगी। मनुष्य को सृष्टि का जितना ज्ञान होगा, उतना ही वह सृष्टि का रूप अच्छी तरह समझकर उसकी शक्ति का उपयोग कर सकेगा। मैं यह चश्मा लगाये हूँ। यदि यह चश्मा न होता, तो मेरे सामने जो लोग हैं, उन्हें मैं देख भी न पाता—इतना अन्धा हो गया हूँ। इस तरह विज्ञान का उपयोग स्पष्ट है।

आज विज्ञान बिक रहा है

लेकिन आज विज्ञान बिक रहा है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक विनाशक शस्त्रास्त्र बनाने को महत्त्व देते हैं । ये इतने अक्लवाले होने पर भी पैसे से खरीदे जा सकते हैं। इन्हें पैसे मिलने पर जिस प्रकार की खोज करने की आज्ञा दी जाय, उसी प्रकार की खोज ये कर देंगे, फिर उससे चाहे दुनिया खतम हो जाय, चाहे दुनिया का भला हो। अगर वैज्ञानिक इतना प्रण करें कि किसीके पैसे से वे खरीदे न जायेंगे और ध्वंसात्मक शस्त्रास्त्र बनाने में हरगिज योग न देंगे, संहार के काम की कोई भी शोध-खोज न करेंगे, तो

दुनिया बच जायगी | लेकिन वैज्ञानिकों में यह अक्ल तब तक नहीं आयेगी, जब तक सारा समाज इस तरह के विचार नहीं अपनायेगा। संहार के लिए शोध करने की वृत्ति को लोग जब घृणा की दृष्टि से देखेंगे, तभी वह बन्द होगा।

विज्ञान से अहिंसा का गठबन्धन हो

यदि विज्ञान बढ़ता जायगा और उसे हम बढ़ने देना चाहते हैं, तो उसके साथ अहिंसा को भी रखना चाहिए। तभी दुनिया का भला होगा। विज्ञान और अहिंसा दोनों का योग होगा, तो दुनिया में 'जमीन पर स्वर्ग उतर आयेगा।' लेकिन अगर विज्ञान और हिंसा की जोड़ी बन गयी, उसकी शादी, गठबन्धन हो गया, तो दुनिया बरबाद हो जायगी। हम अहिंसा पर इतना ज्यादा जोर इसलिए देते हैं कि विज्ञान बढ़े। अगर विज्ञान को बढ़ाना है, तो उसके साथ उसकी रक्षा के लिए अहिंसा की जरूरत रहेगी ही । अगर आप हिंसा को कायम रखना चाहते हैं, तो विज्ञान को नहीं बढ़ाना चाहिए। पहले के जमाने की हिंसा अलग तरह की थी। भीम और जरासन्ध की कुश्ती हुई। जो मरनेवाला था, मर गया, जो बचनेवाला था, बच गया। दुनिया को विशेष हानि नहीं हुई। अगर हिंसा कायम रखना चाहते हैं, तो लाठी से लड़ें, हाथ से लड़ें, बन्दूक की खोज क्यों करना चाहते हैं ?

हिंसा से विज्ञान का खातमा

अगर विज्ञान को सीमित बनाते हैं, तो हिंसा के बने रहने पर भी ज्यादा नुकसान न होगा। लेकिन विज्ञान को बढ़ाना चाहते हों, तो उसके साथ अहिंसा रखने पर ही दुनिया बचेगी। अहिंसा को विज्ञान के साथ रखने के मानी है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच की जो समस्याएँ हैं, उन्हें हल करने में शस्त्रास्त्रों का उपयोग न किया जाय। वे समस्याएँ अहिंसा से हल की जायँ। फिर वैज्ञानिक को यह काम दिया जायगा कि भाई, ऑपरेशन के वास्ते जो शस्त्र बनाने हैं, वे बनाओ; लेकिन मार-काट के वास्ते शस्त्र मत बनाओ। इस तरह सारे-के-सारे मसले, जो मनुष्य के जीवन में पैदा हुए हैं, हम अहिंसा से ही हल करें और विज्ञान खूब बढ़े, तो इसमें हमारा लाभ ही है । इसीलिए हम बार-बार कहते हैं कि विज्ञान और हिंसा एक-दूसरे के खिलाफ हैं । ये दोनों साथ-साथ नहीं टिक सकते। अगर विज्ञान रहना चाहता है, तो उसे हिंसा को

खतम करना होगा, तभी वह टिकेगा। अगर विज्ञान और हिंसा, दोनों साथ-साथ रहते हैं, तो मनुष्य और उसका विज्ञान ही खतम हो जायगा। [पट्टामुण्डाई, उत्कल; १-३-'५५]

व्यवहार में विज्ञान

कुछ लोग समझते हैं कि आटा हाथ-चक्की पर पीसने के बजाय एक छोटी-सी मिल खड़ी कर दें, उसमें बिजली का उपयोग करने लगे, तो शायद यह माना जायगा कि हमने विज्ञान का उपयोग कर लिया । लेकिन ऐसी बात नहीं है। यह तो यंत्र-विद्या (टेक्नालॉजी) की बात हो गयी। किसी भी यंत्र का उपयोग परिस्थिति के अनुसार होता है।

विज्ञान में वस्तु की ओर देखने का दृष्टिकोण मुख्य है। विज्ञान की विशेषता उसकी वैज्ञानिकता और शास्त्रीय दृष्टि में है। हमारा दृष्टिकोण जब वैज्ञानिक (साइंटिफिक) और शास्त्रीय होता है, तब हम जीवन के हर विषय में खोज करने लगेंगे। आज भारत में मलेरिया कम हुआ है, क्योंकि यहाँ विज्ञान का उपयोग हुआ। अभी यहाँ मक्खियाँ कम नहीं हुई हैं । अब यह विज्ञान के प्रयोग का विषय है कि वे कैसे कम हों। जीवन का प्रत्येक व्यावहारिक अंश शास्त्रीय ढंग से होना चाहिए। अपने कपड़े, अपने बिस्तर, अपने सामान की व्यवस्था इन सबमें विज्ञान का पुट होना चाहिए। कम-से-कम सामान में ज्यादा-से-ज्यादा व्यवहार चल जाय, मकान की बनावट में सादगी हो, स्वच्छत की व्यवस्था हो, रसोई में ज्यादा परिश्रम न लगे, समय अधिक न लगे, कोई मनुष्य बीमार न पड़े, भोजन सन्तुलित हो। इस प्रकार हरएक चीज पर विज्ञान का प्रकाश पड़ना चाहिए। इसके लिए आधुनिक विज्ञान का अध्ययन होना चाहिए। [हटुगंज, २४ परगना, प० बंगाल; १८-५-'६३]

आत्मज्ञान की बारी है

अकसर कहा जाता है कि अब विज्ञान का जमाना है, लेकिन आत्मज्ञान तो पहले से है। इसमें शक नहीं कि गत कुछ दशाब्दियों में विज्ञान ने बहुत प्रगति की है। जो विज्ञान की स्थिति है, वही आत्मज्ञान की भी है। आत्मज्ञान भी अनादिकाल से चला आ रहा है, लेकिन इसकी प्रगति इन दिनों रुक-सी गयी है, इसलिए जीवन में सुसंगति और समाधान की कमी दीखती है।

विज्ञान ने कई नये प्रयोग किये और अब आणविक शक्ति की खोज की है, तो उसी प्रकार आत्मज्ञान को भी आणविक शक्ति प्रकट करने की आवश्यकता है। आत्मज्ञान की खोज के अन्तर्गत अणु वह है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है और हृदय के अन्दर है। वह छोटा जरूर है, लेकिन आकार में वह जितना छोटा है, उसका स्फोट उतना ही विशाल है।

प्रयोग का नया क्षेत्र

पहले आत्मज्ञान का प्रयोग परिवार तक सीमित था और विज्ञान भी परिवार तक ही सीमित था। अब विज्ञान विश्वव्यापक हुआ है, आत्मज्ञान को भी विश्वव्यापक करना है। आत्मज्ञान तो विश्वव्यापक है ही, लेकिन प्रयोग के लिए उसे परिवार में दाखिल किया; मिल-जुलकर काम करना, बाँटकर खाना, एक-दूसरे के लिए त्याग करना आदि सारी भावनाएँ परिवार तक सीमित थीं। इस प्रकार विश्वव्यापक आत्मज्ञान का दर्शन पहले परिवार में किया था। अब उसे प्रत्यक्ष प्रयोग के लिए गाँव में लेना चाहिए। क्या उसका अन्तिम विकास ग्राम तक ही होगा ? नहीं। यह अन्तिम नहीं है, अभी इतना ही आवश्यक है। आगे उसे और व्यापक करना होगा। विज्ञान भी प्रगति करता जायगा। अब वह जिस तरह अन्तर्राष्ट्रीय है, उसी तरह अन्तर्ग्रहीय' (इण्टर प्लैनिटल) बनेगा। उस वक्त हमारा गाँव का प्रयोग कुछ बड़े क्षेत्र तक फैलाया जायगा। लेकिन आज जब कि विज्ञान केवल पृथ्वी तक सीमित न रहकर दूसरे ग्रहों तक फैलने जा रहा है, तब आत्मज्ञान गाँव तक भी न फैले, परिवार तक ही सीमित रहे, तो उस विकसित विज्ञान के लिए हम अनुपयोगी सिद्ध होंगे। इसका अर्थ होगा कि युग आगे बढ़ेगा और हम पीछे रह जायेंगे।

विकास का परिणाम

दो-एक उदाहरण लें। पिछले दिनों क्यूबा में क्या हुआ। रूस इतना बड़ा और शक्तिशाली राष्ट्र है, फिर भी क्यूबा से उसने अपनी ताकत हटा ली। यह विज्ञान के युग के अनुरूप ही है। क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में विश्वव्यापक चिन्तन चलता है । इसमें संकुचित राष्ट्रवृत्ति रह नहीं सकती। आज चीन की स्थिति क्या है ? चीन ने पहले गलत हिसाब किया और भारत पर आक्रमण किया। कुछ ही दिनों में प्रकाश हुआ, तो अनुभव हुआ कि अगर यह आक्रमण जारी रहा, तो वह संसार को सर्वनाश की ओर ले जायगा। एक छोटे हिमालय के इर्द-गिर्द रूस, अमेरिका, इंग्लैण्ड, भारत, पाकिस्तान, चीन और सब देश इकट्ठा

हो जायेंगे और हिमालय के पास संहार का नृत्य होगा—इसका दर्शन होते ही, स्वयं विजयी होते हुए भी चीन ने अपना कदम वापस लेना तय किया। इतिहास में कभी ऐसा नहीं हुआ था। विजयी सेना आगे बढ़ रही है और उसको आदेश दिया जा रहा है कि कदम पीछे हटाओ। यह क्या हो रहा है ? यह प्रेरणा कौन दे रहा है ? यह प्रेरणा विकसित विज्ञान और विकसित आत्मज्ञान दे रहा है। इसलिए हमें इस युग के लायक बनना होगा।

भारत में अनेक धर्म हैं—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि बहुविध समाज हैं । सारा समाज प्रेम से रहता है और अनेक जाति, अनेक धर्म और अनेक भाषा आदि भिन्नताओं के होते हुए भी गाँव-गाँव एक परिवार की तरह रहता है, मिल-जुलकर ग्राम-चिन्ता करता है, तो कहा जा सकेगा कि आत्मविज्ञान ने परिवार की सीमा से आगे बढ़कर एक अगला कदम बढ़ाया है। तब विज्ञान और आत्मज्ञान दोनों की जोड़ी बनेगी, दोनों साथ-साथ बढ़ेंगे और इससे संसार का भला होगा। फिर विज्ञान एक कदम बढ़ेगा, तो आत्मज्ञान को भी एक कदम और आगे बढ़ाना होगा।

संघर्ष अनावश्यक

लोग एक-एक कदम उठाने के लिए भी डरते हैं और इसलिए संघर्ष अब ज्यादा दिन नहीं चलेगा, क्योंकि विज्ञान संघर्ष को रोकता है। आज संघर्ष का कारण यह है कि विज्ञान आगे का कदम उठाता है और आत्मज्ञान आगे कदम उठाने को राजी नहीं होता है। असल में उल्टा होना चाहिए, आत्मज्ञान आगे कदम उठा रहा है और विज्ञान को उसके पीछे कदम बढ़ाना पड़ रहा है। लेकिन सब विपरीत चल रहा है, कारण यह है कि जिन देशों में एक जमाने में आत्मज्ञान विकसित हुआ था, वे देश अब मन्द हैं। भारत, ईरान, अरबस्तान, फिलस्तीन आदि देशों में आत्मज्ञान विकसित हुआ था, अब ये सारे देश पिछड़ गये हैं और जो विज्ञान में आगे बढ़े थे, उनका उत्साह कायम है, इसलिए विज्ञान आगे बढ़ रहा है और आत्मज्ञान को घसीटकर ले जाता है। पुराने ऋषियों ने जैसी तपस्या की थी, वैसी तपस्या आज होती, तो आत्मज्ञान आगे जाता और विज्ञान उसके पीछे जाता।

इस तरह विज्ञान और आत्मज्ञान की दौड़ चल रही है। जैसे घुड़-दौड़ में होता है , कभी यह आगे दौड़ा तो कभी पीछे पड़ गया, कभी वह जोर मारता है, तो कभी यह। यह दृश्य आज दुनिया में देखने को मिल रहा है और यह सारा नाटक हम देख रहे हैं। [बँसवटी, मुर्शिदाबाद, प० बंगाल; २-१२-'६२]

३. विज्ञान का अधिकारी भारत

हमारा देश बहुत पुराना है और दुनिया में इसकी अपनी विशेषता है। दुनिया जानती है कि भारत द्वारा कभी भी दूसरे देशों पर आक्रमण नहीं हुआ। जिस वक्त भारत में सत्ताशाली राजा और सम्राट् थे, भारत विद्या और कला से सम्पन्न हो ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचा हुआ था, तब भी उसके द्वारा दूसरे देशों पर आक्रमण होने का एक भी उदाहरण नहीं है। भारत कोई छोटा-मोटा नहीं, बहुत बड़ा लम्बा-चौड़ा विशाल देश है। फिर भी इतने बड़े देश के इतिहास में विदेशों पर आक्रमण करने की एक भी घटना नहीं घटी ! यहाँ से विद्या और धर्म का सन्देश लेकर जो भारतीय चीन, जापान, लंका, तिब्बत, ब्रह्मदेश और मध्य एशिया गये, वे साथ में कोई शस्त्र लेकर नहीं गये और न कोई सत्ता लेकर ही गये । वे केवल ज्ञान-प्रचार के लिए गये और थोड़े-से व्यापारी व्यापार के लिए भी गये। लेकिन कभी भी, कहीं से यह शिकायत नहीं आयी कि भारत ने दूसरे पर विचार का भी हमला किया। भारत अपनी सत्ता दूसरे देश पर चलाना तो चाहता ही नहीं, परन्तु विचार का भी हमला उसने कभी नहीं किया। केवल विचार समझाकर ही सन्तोष रखा। यह भारत की एक बड़ी खूबी है। भारतीय इतिहास की यही खूबी हमारे लिए बहुत गौरव की बात है । आज वर्षों बाद—ठीक बोलना हो, तो कोई दो हजार साल बाद—भारत को यह मौका मिल रहा है कि सारे भारत में हम अपनी सभ्यता को और भी उज्ज्वल रूप में पेश करें और यह दिखा दें कि आज के विज्ञान-युग में, विज्ञान के लायक अगर कहीं का विचार है, ती भारत का ही विचार है।

सदैव मुक्त-चिन्तन का पक्षपाती

हिन्दुस्तान में हमने किसी एक पुरुष के नाम से धर्म नहीं चलाया। यह इस देश के लिए अभिमान की बात हो सकती है। अगर हम उनका नाम लेकर, उनके कार्य को आगे बढ़ाने की प्रतिज्ञा करते हैं, तो उनके नाम का गौरव हो सकता है। फिर भी हमने किसी भी महापुरुष के नाम के साथ अपने विचार को नहीं बाँधा, जैसे कि ईसा ने ईसाई-धर्म को 'क्राइस्ट' के साथ बाँध दिया है। हम ईसा का भी नाम बड़े

गौरव के साथ लेते हैं, क्योंकि महापुरुषों में हम फर्क नहीं करते। फिर भी वे कितने भी बड़े हों, हम यह मानने को राजी नहीं कि किसी एक महापुरुष के जरिये ही हम भगवान् के पास पहुँच सकते हैं। हमारा और भगवान् का सीधा सम्बन्ध हो सकता है। हमारे बीच ऐसी किसी एजेन्सी की आवश्यकता नहीं। अतएव हम भारतीयों ने हमेशा मुक्त चिन्तन किया है। हिन्दुस्तान के दर्शन ने विज्ञान कै साथ कभी झगड़ा नहीं किया। शंकराचार्य ने तो यहाँ तक कह रखा है कि यदि साक्षात् श्रुति भी 'अग्नि ठंडी है' ऐसा कहे, तो हम उसे मानने के लिए बाध्य नहीं। अर्थात् विज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभव की जो बात होगी, उसके विरुद्ध वेद भी नहीं बोलते और न बोलना चाहते हैं।

धर्म-विचार विज्ञान से अविरुद्ध

इतिहास के जानकारों को मालूम है कि यूरोप में धर्म और विज्ञान के बीच बाकायदा लड़ाई चली। विज्ञान ने कहा कि ''पृथ्वी सूर्य के इर्द-गिर्द घूमती है'', तो वहाँ के धार्मिकों ने उसका यह कहकर विरोध किया कि “यह बात हमारे धर्मशास्त्र के विरुद्ध है।'' विज्ञान का जहाँ ज्यादा-से-ज्यादा विकास हुआ, वहीं उसका घोर विरोध भी हुआ। विज्ञान को धर्मवालों के खिलाफ खड़ा होना पड़ा और धर्मवालों ने भी विज्ञानवालों को खूब सताया। यहाँ तक कि कितनों को जेल में डाला और मारा भी | ईसाई संस्थाओं और पोप की तरफ से उन्हें बहुत ज्यादा तकलीफें भोगनी पड़ीं। गैलिलियो को इसलिए जेल में डाला गया कि वह यह नहीं कहता था कि “पृथ्वी नहीं घूमती''। लेकिन वह समझता था और उसके प्रयोगों ने उसे दिखा दिया था कि पृथ्वी तो घूमती रहती है। आखिर उसे जब बहुत सताया गया, तो उसका दिल थोड़ा कमजोर होने लगा। लेकिन उसकी विवेक-बुद्धि जाग्रत हो गयी और उसने कहा : “नहीं, मैं चाहता हूँ कि पृथ्वी न घूमे। लेकिन वह घूमती है, क्या करूँ ? इसलिए मैं नहीं कह सकता कि पृथ्वी नहीं घूमती।''—‘It moves and moves and moves, not with-standing myself it moves.’

किन्तु हिन्दुस्तान में धर्म-विचार से विज्ञान के साथ ऐसा कोई विरोध नहीं आया। ज्ञान-शिरोमणि शंकराचार्य ने जाहिर कर दिया कि **'ज्ञानं न पुरुषतन्त्रम्, किन्तु वस्तुतन्त्रम्'** यानी ज्ञान मनुष्य की मर्जी पर नहीं, वस्तु के स्वरूप पर निर्भर है। इसलिए वस्तु-स्वरूप के बारे में किसीकी आज्ञा नहीं चल सकती। वस्तु-स्वरूप के सामने सारी आज्ञाएँ कुण्ठित हो जाती हैं । वस्तु का स्वरूप वस्तु ही निश्चय करेगी, मनुष्य-बुद्धि नहीं। इसी तरह मनुष्य यह नहीं मान सकता कि “वर्तुल वर्तुल नहीं, त्रिकोण है और

त्रिकोण वर्तुल है।" त्रिकोण का स्वरूप त्रिकोण पर निर्भर है, तो वर्तुल का स्वरूप वर्तुल पर। 'पृथ्वी' का स्वरूप पृथ्वी पर और सूर्य का स्वरूप सूर्य पर निर्भर है, मेरी मर्जी, मेरे वाक्यों या मेरे अर्थों पर निर्भर नहीं । शंकराचार्य ने यह कहकर मानो विज्ञान के लिए 'मेग्नाचार्टा' ही दे दिया कि "विज्ञान! खुलकर सामने आओ, हमारे धर्म-विचार से तुम्हारा कोई विरोध नहीं ।" इस तरह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में धर्म-विचार से विज्ञान का कभी भी विरोध नहीं माना गया। अब भारत के सामने मौका है कि वह दिखा दे कि भारत का धर्म-विचार वैज्ञानिक है और हम विज्ञान का स्वागत करते हैं। हम चाहते हैं कि विज्ञान खूब आये | उससे भारत का विचार परिपुष्ट होनेवाला है। हमारे आत्मज्ञान या वेदान्त-दर्शन को, जिसका दर्शन इस भारत-भूमि में हुआ था, विज्ञान से बल मिलेगा। वह कुण्ठित नहीं होगा। विज्ञान से हमारा धर्म कुण्ठित होनेवाला नहीं है।

ईश्वर कर्म-सापेक्ष

यूरोप में यह धर्म-विचार चला कि "परमेश्वर एक सृष्टिकर्ता है और दुनिया के किसी एक घोंसले में बैठ, वहीं से सारी दुनिया पर राज्य करता है।'' लेकिन हमारे दार्शनिकों का मत है कि परमेश्वर ऐसा सुलतान नहीं है। ईश्वर तो कर्म-सापेक्ष है। वह बारिश की माफिक बरसेगा, लेकिन खेती हम ही करेंगे। वह हमारे कर्तृत्व के खिलाफ नहीं जा सकता। वह तो कर्म का फल देकर मुक्त रहेगा, किसी पर कोई चीज नहीं लादेगा। शास्त्रकारों ने कह दिया कि हम किसीको भी दुनिया का पति, परमेश्वर या लार्ड नहीं मानते। ऐसे पति को मानना अधर्म है। ईश्वर एक घोंसले में नहीं, घट-घट में विराजमान है। वह अन्तर्यामी है, जो हमारे हृदय में रहता है, हमारी अन्तःप्रेरणा के अन्दर छिपा है। इस तरह हमारे आगे एक मैदान खुला पड़ा है। अगर विज्ञान पर किसीका अधिकार हो सकता है और विज्ञान का अत्यन्त निर्भयता के साथ कोई स्वागत कर सकता है, तो हिन्दुस्तान ही कर सकता है।

सह-अस्तित्व का आदर्श

हिन्दुस्तान आक्रमण में नहीं, प्रेम में विश्वास रखता है। भारत में शक, हूण, आर्य, यहूदी, पारसी, ईसाई, चीनी, जापानी सभी आये। हमने सबको कबूल किया, सबको बसाया, सब पर प्यार किया, सबको 'एडजस्ट' किया। हमने 'सह-अस्तित्व' की कल्पना हिन्दुस्तान में चलायी। आज हिन्दुस्तान के

'पंचशील' का नाम सारी दुनिया में बोला जा रहा है। पंचशील का अर्थ है, जीवन में विविधता को सहन करना। यही भारतीय संस्कृति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने-अपने अलग जीवन हैं । किन्तु भारतीय संस्कृति बता रही है कि वैश्य या शूद्र को मुक्त होने के लिए ब्राह्मण बनने की जरूरत नहीं। निष्काम भावना से जो अपने-अपने कर्म में रत रहेंगे, वे उसी कर्मयोग से परमेश्वर को प्राप्त कर सकते हैं। **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** अपने-अपने कर्म में तत्पर रहकर निष्काम भावना से भगवत्-पूजा समझकर व्यापार करनेवाले व्यापारी भी मुक्त हो सकते हैं। हमारा धर्म बतलाता है कि व्यापारी अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए पैसा रखें और स्वयं उसके ट्रस्टी बनें। इस तरह यदि ट्रस्टी बनकर उसका उपयोग करते हों, तो व्यापार और धन-संग्रह करते हुए भी वे परमेश्वर के पास पहुँच सकते हैं, मोक्ष पा सकते हैं | यह बहुत बड़ी बात थी। यही सह-अस्तित्व (Co-existence) है। यानी यहाँ दुनियाभर की भिन्न-भिन्न जमातें रह सकती हैं; अपना-अपना जीवन जी सकती हैं। अपने-अपने देवता की भक्ति कर सकती हैं, अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों का पठन कर सकती हैं | एक-दूसरे के साथ टकराने का कोई कारण ही नहीं। इसी तरह सभी प्रेम और निष्काम भाव से समाज की सेवा करने लगें, तो सुख से जी सकते हैं । कोई कारण नहीं कि जीवन का एक ढाँचा दूसरों पर लादा जाय।

विचार लादने का प्रश्न ही नहीं

एक भाई ने पूछा : “आपका यह ग्रामदान तो दीखने में बड़ा उमदा दीखता है, लेकिन शायद लादा जा रहा है, यानी यदि आप ‘जमीन समाज की' कहते हैं, तो मनुष्यों को अपने-अपने ढंग से जीने की सहूलियत रहेगी या नहीं ?''

हमें ऐसे प्रश्नों से खुशी होती है। हम चाहते हैं कि सद्-विचार में भी अगर कोई असद् अंश रह गया हो, तो उसे साफ कर लेना चाहिए। कितने भी बड़े सद्-विचार को हम जैसा-का-तैसा निगलने के लिए तैयार नहीं, विचार की छानबीन ही करना चाहते हैं। बहुत-से लोग ग्रामदान का नाम सुनकर खुश हो जाते और कहते हैं कि अब तो बाबा जमीन की मालिकी मिटाने की बात कहता है। अब जमीन सबकी हो जायगी । कुल जमीन इकट्ठा कर सहकारी खेती के के बड़े-बड़े प्रयोग किये जायेंगे। फिर बाबा से पूछा जाता है कि “क्या आप ऐसा करनेवाले हैं ?” मैं कहता हूँ : ऐसा कर भी सकते हैं और नहीं भी। ग्रामदान में हम 'भी-वादी' हैं, 'ही-वादी' नहीं। यानी यह भी होगा और वह भी होगा। गाँववाले

जिस तरह सोचेंगे उस तरह होगा। ग्रामदान ग्राम-स्वराज्य की घोषणा है। गाँववाले अपने-अपने गाँव में मिल-जुलकर जो व्यवस्था करेंगे, वही व्यवस्था चलेगी। उन पर बाहर से कोई व्यवस्था लादी नहीं जायगी। अगर वे अलग-अलग खेती करना चाहेंगे, तो अलग खेती कर सकेंगे और यदि दो-चार-दस इकट्ठा होना चाहें या सारे गाँव को इकट्ठा करना चाहें, तो वैसा भी कर सकेंगे। सबकी आवाज एकमत से काम करेगी। अगर भिन्न आवाज हुई, तो दोनों प्रकार के प्रयोग चलेंगे। लेकिन मालिकी गाँव की रहेगी और परिणामस्वरूप गाँव-गाँव में स्वराज्य आयेगा।

एक होने में ही विज्ञान की उपयोगिता

जब हम गाँव में ग्राम-स्वराज्य का संकल्प करते हैं, जमीन सबकी बनाते हैं, तो हरएक को थोड़ी-थोड़ी जमीन देते हैं। जिनको ज्यादा जमीन नहीं दे सकते, उन्हें ग्रामोद्योग देते हैं और गाँव की मुख्य जरूरतें गाँव में ही पूरी करने की योजनाएँ करते हैं । तभी हम अपने गाँव में पूरा अनाज पका सकते हैं और आवश्यक अनाज अपने पास रखकर बचा अनाज शहरों को दे सकते हैं । हम शहरों को भूखों मारना नहीं चाहते, क्योंकि हिन्दुस्तान में अनाज खूब पैदा हो सकता है। फसल खूब बढ़ सकती है। एक-एक व्यक्ति विज्ञान का उपयोग नहीं कर सकता । इसीलिए मैंने कहा कि “विज्ञान, भारत में आओ, तुम्हारा स्वागत है ! तुमसे हमारे किसी धर्म-विचार और तत्त्वज्ञान में बाधा नहीं आती।'' हम वैज्ञानिक बनना और विज्ञान का उपयोग भारत की खेती में करना चाहते हैं । किन्तु अगर सारे गाँववाले मिल-जुलकर काम करें, तो विज्ञान का उपयोग अच्छी तरह कर सकते हैं। फिर ये अनाज के भाव भी हमारे हाथों में आ सकते हैं। आज गाँववाले अपना अनाज बाजार की चीज समझकर उसे बाजार में ले आते हैं और उसका मूल्य कम हो जाता है। वे अनाज को अपने घर की चीज क्यों नहीं बनाते ? गाँववालों को अपने घर का अनाज बेचकर मौके पर बाहर से खरीदने की नौबत क्यों आये ? ये सारी बातें सम्पन्न करने के लिए ही 'ग्रामदान' है। ग्रामदान में किसीको मजबूर बनाने की बात हरगिज नहीं । अगर ग्रामदान में किसीको मजबूर बनाने का विचार होता, तो भारतीय संस्कृति को जाननेवाला मैं उसे हरगिज कबूल न करता।

भारत को त्याग का विचार अतिप्रिय

भारतीयों से उनकी शक्ति के अनुरूप थोड़ा-बहुत त्याग करने की बात कही जाय, तो उन्हें वह विचार बहुत पसन्द पड़ता है। बाबा के व्याख्यानों के लिए हजारों की भीड़ उमड़ पड़ती है, इसका कारण और कुछ नहीं, उसका त्याग और प्रेम का सन्देश सुनाना ही है । वह भारतीय संस्कृति का सन्देश है, इसलिए उसे सुनने के लिए लोग उत्सुक रहते हैं और उमड़ पड़ते हैं। इस जमाने में त्याग कुछ कठिन है, जब कि देश में अत्यन्त दारिद्र्य है। फिर भी लोग त्याग कर ही रहे हैं। गत आठ-दस सालों में हमने यह मजा देखा। हिन्दुस्तान में ६ लाख दान-पात्रों के जरिये ४२ लाख एकड़ भूमि मिली है। जिसके सामने हाथ फैलाया, उसने दिया ही। ऐसा कोई शख्स नहीं मिला, जिसके सामने हाथ फैलाया और उसने न दिया हो। इस तरह प्रेम का यह सन्देश भारत का अपना सन्देश है। यदि यूरोपवाले इसे कबूल करें, तो विज्ञान पर उन्हें भी भारत जितना ही पूरा हक रहेगा।

बड़े दु:ख की बात है कि आज हिन्दुस्तान के पास ज्यादा विज्ञान नहीं है । उसे हमें पश्चिम के लोगों से सीखना है । उसे सीखने का हमें पूरा अधिकार है। अहिंसा के तरीके से विज्ञान का उपयोग कर हम दिखा दें कि ''भारत की समस्याएँ प्रेम से हल की जा सकती हैं। भारत का गाँव-गाँव आजाद बन गया है और सभी प्रेम से कारोबार चला रहे हैं । हमने विज्ञान का पूरा उपयोग कर फसल बढ़ायी है। हम प्रेम से एक-दूसरे के साथ रहते हैं। भारत में आपस का कोई भी झगड़ा है ही नहीं ।" आज यूरोप और अमेरिका के लोग चाहते हैं कि भारत इस दिशा में हमारा पथ-प्रदर्शन करे । [भीलवाड़ा, राजस्थान; १२-२-'५९]

विज्ञान के युग में अगर हिन्दुस्तान को जीना है, तो क्या-क्या करना होगा ? एक तो यह कि मानव की समस्याएँ अहिंसा की शक्ति, नैतिक शक्ति से ही हल करने का निर्णय किया जाय। दूसरा यह कि विज्ञान का उपयोग सेवा के साधन में करें, संहारक साधन बनाने में नहीं। और तीसरा यह कि विज्ञान को बड़े यन्त्र बनाने की आज्ञा देनी है या छोटे की, यह परिस्थिति देखकर तय किया जाय। ये बातें हम ध्यान में रखते हैं, तो विज्ञान से बहुत लाभ होगा। [पट्टामुण्डाई, उत्कल; १-३-'५५]

५. समन्वय

१. दो पहलू

आज लोग परलोक, चन्द्र और मङ्गल से सिर्फ मजा या आनन्दभर नहीं चाहते, बल्कि यह चाहते हैं कि प्रकृति का पूरा रहस्य मानव के हाथ में आ जाय। निस्सन्देह यह असाध्य ध्येय है। कितना भी यत्न करें, ब्रह्माण्ड की शक्ति मानव के हाथ में कैसे आयेगी ? लेकिन विज्ञान का समाधान इसीमें है। वह ऐसे ध्येय के बिना प्रयत्न ही नहीं करता। वह तो यह भी करेगा कि मरे हुए मनुष्य को जिन्दा कैसे किया जाय या बाहरी पदार्थों द्वारा मनुष्य कैसे गढ़ा जाय । इस प्रकार असफल प्रयोगों को करते-करते थोड़ी सफलता भी मिल जाती है और इसी थोड़ी सफलता में दुनिया का काम बन जाता है। [अरसीकेरे, हासन, मैसूर; ८-११-'५७]

आत्मज्ञान से ही विज्ञान को सही दिशा

विज्ञान में दोहरी शक्ति होती है। एक विनाश-शक्ति और दूसरी विकास-शक्ति। यह सेवा भी कर सकता है और संहार भी। अग्नि-नारायण की खोज हुई, तो उससे रसोई भी बनती है और घर में आग भी लगायी जा सकती है। किन्तु अग्नि का उपयोग घर फूँकने में करना है या चूल्हा जलाने में, यह अक्ल विज्ञान में नहीं है। यह अक्ल तो आत्मज्ञान में है। जैसे पक्षी दो पंखों से उड़ता है, वैसे ही मनुष्य आत्मज्ञान और विज्ञान, इन दो शक्तियों से अग्रसर हो सुखी होता है। हर यन्त्र में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं । एक गति बढ़ानेवाली और दूसरी दिशा दिलानेवाली । मोटर को ही लीजिये, उसकी १० मील की रफ्तार है, तो उसे २० मील या ३० मील करना यन्त्र पर निर्भर होता है। लेकिन मोटर को पूर्व, पश्चिम किंवा दक्षिण की तरफ मोड़ने का काम दूसरा यन्त्र करता है। अगर इनमें से एक भी यन्त्र न हो, तो काम नहीं चलेगा। मोटर को दोनों यन्त्रों की जरूरत रहेगी। हम पाँव से चलते हैं, आँख से नहीं। आँख से तो दिशा मालूम होती है। इसी तरह आत्मज्ञान है आँख और विज्ञान है पाँव। अगर मानव को आत्मज्ञान की दृष्टि न हो, तो वह अन्धा न मालूम कहाँ चला जायगा, कुछ पता नहीं । इसी प्रकार उसे आँखें हैं, लेकिन पाँव न हों, तो इधर-उधर देख सकेगा, पर घर में ही उसे बैठे रहना पड़ेगा। इसलिए बिना विज्ञान के

संसार में कोई काम ही न हो सकेगा और बिना आत्मज्ञान के विज्ञान को ठीक दिशा ही न मिलेगी। [पट्टामुण्डाई, उत्कल; १-३-'५५]

संगम का विज्ञान

मोटर में उसकी गति बढ़ाने का एक यन्त्र होता है। उसको दबाइये, मोटर की रफ्तार चाहे जितनी बढ़ाइये। दूसरा साधन होता है, जिससे दिशा बदली जा सकती है। इन दोनों की मदद से मोटर चलती है। इसी तरह मानव के अन्दर दो शक्तियाँ हैं, एक है बुद्धि-शक्ति, दूसरी है प्राण-शक्ति । सामने पेड़ पर अच्छे आम हैं । आँखों ने देखा और मन में प्रेरणा हुई, तो पाँव को हुक्म दिया। पाँव जाकर पेड़ के नीचे खड़ा हुआ। फिर हाथ को आज्ञा मिली तो हाथ ने पत्थर उठाया, फेंका और आम नीचे गिरा । फिर मुँह से खा लिया। इस काम की प्रेरणा आँख ने दी और हाथ, पाँव और मुँह ने काम किया। असल में मूल प्रेरणा मन की थी। मन ने आज्ञा दी, इन्द्रियों ने काम किया। इन्द्रियों का काम प्राण-शक्ति के बिना नहीं हो सकता। विज्ञान जीवन की प्राण-शक्ति है और अध्यात्म जीवन का चित्त है। चित्त के मार्ग-दर्शन में प्राण काम करता है । इसलिए अध्यात्म का मार्ग-दर्शन विज्ञान को मिलना चाहिए। [चित्रशाली, नदिया, प० बंगाल; २०-२-'६३]

धरती पर स्वर्ग

विज्ञान के प्रति मेरे मन में बहुत आदर है। मेरे पिताजी वैज्ञानिक थे। विज्ञान के साथ-साथ वे रँगाई और छपाई भी जानते थे और इनके कई प्रयोग करते थे। मुझे बचपन से गणित-शास्त्र का शौक था। मेरी पहली श्रद्धा परमात्मा पर है, उसके बाद का स्थान मैं गणित-शास्त्र को देता हूँ। मुझे विज्ञान का अध्ययन करने का मौका भी मिला है, लेकिन अब विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है। बचपन में मैंने जो पढ़ा था, उसके आधार पर सोचा जाय, तो पता नहीं चलेगा कि विज्ञान कितना आगे बढ़ा है। विशेषत: जब से मनुष्य के हाथ में आणविक शक्ति आ गयी है, तब से विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है।

दोनों की प्रगति एक साथ

इसके आगे दुनिया में विज्ञान और अध्यात्म रहेगा, राजनीति और धर्म मिट जायेंगे। पक्षनिष्ठ राजनीति, सत्ता की राजनीति और स्थानिक राजनीति सब खतम होंगे। खतम होने के पहले वे बहुत

कष्ट देंगे। लेकिन उनको जाना है। क्योंकि विज्ञान के प्रकाश में वे टिक नहीं सकते। विज्ञान दुनिया को नजदीक ला रहा है। दूसरे ग्रहों के साथ सम्बन्ध जोड़ रहा है। इस हालत में पुराने खयाल नहीं रह सकते। एक तो राजनीति को जाना है और दूसरा छोटे-छोटे धर्म-पन्थों को जाना है। नाना प्रकार की उपासनाएँ पुरानी पड़ गयी हैं, वे हृदय को संकुचित बनाती हैं और एक मानव को दूसरे मानव से तोड़ती हैं। ये सब उपासनाएँ और तन्मूलक कार्य मिटने चाहिए और उसके बाद धर्म-सार आत्म-विद्या पनपेगी। विज्ञान और आत्मज्ञान दो टिकेंगे और मनुष्य को जोड़ने का काम आगे चलेगा।

विज्ञान की निरपेक्ष शक्ति

मैं विज्ञान और तंत्रशास्त्र (टेक्नालॉजी) में फर्क करता हूँ। विज्ञान और तंत्रशास्त्र का उपयोग व्यवहार में कहाँ तक करना चाहिए, इसका निर्णय विज्ञान नहीं देगा, अध्यात्म देगा। किस समाज में, किस काल में तंत्रशास्त्र का कितना उपयोग करना चाहिए, इसकी आज्ञा विज्ञान को मिलेगी । विज्ञान की प्रगति की सीमा नहीं है, वह जितना आगे बढ़े, उतना अच्छा ही है । लेकिन उसके उपयोग के लिए आत्मज्ञान का मार्ग-दर्शन रहेगा। अग्नि की खोज हुई। उससे सुन्दर रसोई बना सकते हैं । लेकिन उससे घर भी जला सकते हैं । यह कौन कहेगा कि अग्नि का उपयोग आग लगाने में होना चाहिए या रसोई बनाने में ? अग्नि इसका निर्णय नहीं कर सकती, इसके लिए दूसरे का मार्ग-दर्शन आवश्यक है । विज्ञान एक नीति-निरपेक्ष शक्ति है, अनैतिक नहीं (नॉन-मॉरल है, इम् मॉरल नहीं) । वह नैतिक (मॉरल) शक्ति भी नहीं है, नीति-निरपेक्ष है। उसको जैसा मार्ग-दर्शन मिलेगा, उसके अनुसार उसका उपयोग होगा।

मार्ग-दर्शन का महत्त्व

क्लोरोफार्म की खोज होने पर मनुष्य को कितना लाभ हुआ! पुराने जमाने में जब मनुष्य को ऑपरेशन (शल्यक्रिया) की आवश्यकता पड़ती थी , तो उसको कसकर बाँधते थे। इससे उसको कितनी तकलीफ होती होगी ! तब ऐसी औषधि की जरुरत थी, जिससे मनुष्य को दु:ख का भान न हो। उस जमाने में अफीम का थोड़ा उपयोग कर लेते थे, लेकिन आज क्लोरोफार्म जो काम करता है, यह उससे नहीं होता था। इसलिए क्लोरोफार्म की खोज भूतदया के अनुकूल है। जो विज्ञान एक ओर क्लोरोफार्म

की खोज करता है, जिससे करुणा का काम होता है, वही दूसरी ओर अणुबम की खोज करता है, जिससे भयंकर हानि और संहार होता है। आज लड़ाई में संहारक शस्त्र काम में आते हैं। सिपाही जख्मी होते हैं, उनकी सेवा के लिए डॉक्टर भेजे जाते हैं, औषधि और क्लोरोफार्म आदि दूसरे साधन भेजे जाते हैं । एक बाजू सिपाही जख्मी करना और दूसरी बाजू उनको दुरुस्त करना—ऐसा गोरखधन्धा आज विज्ञान की मदद से चलता है। इधर भी विज्ञान और उधर भी विज्ञान। इस हालत में विज्ञान का सारा काम उसको मिलनेवाले मार्ग-दर्शन पर निर्भर है। जैसा मार्ग-दर्शन मिलेगा, तदनुसार वह लाभदायी या हानिकारक सिद्ध होगा।

वैज्ञानिक और वैज्ञानिकता

आज विज्ञान राजनीतिज्ञों के हाथ में है। वे जैसा आदेश देंगे, उसे उसके अनुसार कार्य करना होगा। वैज्ञानिकों को राजनीतिज्ञों के इशारे के अनुरूप खोज करनी होगी। वे पैसा देकर वैज्ञानिकों को खरीद लेते हैं । यह तो वैज्ञानिक की गुलामी है। ऐसे लोग अवैज्ञानिक हैं (अन् साइंटिफिक हैं)। यदि वैज्ञानिक
(साइंटिस्ट) वैज्ञानिक (साइंटिफिक) होंगे, तो ऐसी चीज सहन नहीं करेंगे। आज विज्ञान तो बढ़ा है, लेकिन वैज्ञानिक-वृत्ति निर्माण नहीं हुई है, जीवन वैज्ञानिक (साइंटिफिक) नहीं बना है।

जीवन यदि वैज्ञानिक (साइंटिफिक) बनता है, तो सादा होता है। बहुतों का ख्याल है कि विज्ञान से जीवन जटिल बनेगा। लेकिन यह ख्याल गलत है। विज्ञान के बढ़ने से मनुष्य आकाश का महत्त्व समझेगा। अब मनुष्य रात-दिन कपड़ा पहने रहता है, शरीर के कुछ हिस्से को सूर्य-किरणों का स्पर्श तक नहीं होता। इससे शरीर जीर्ण बनता है और प्राणशक्ति-विहीन होता है। यह विज्ञान समझाता है, तो मनुष्य वस्त्रों का उपयोग कम करने लगेगा और इस तरह जीवन सादा बनेगा। विज्ञान के जमाने में कोई दस-दस तल्लेवाले मकान नहीं बनायेगा। क्योंकि एक तल्लेवाला मकान अच्छा है, वह भी ऐसा कि जिसमें हवा और प्रकाश अन्दर आ सके, आसपास खुली जगह हो।

विज्ञान का परिणाम

विज्ञान से आरोग्य इतना बढ़ेगा कि मनुष्य को औषधियों की आवश्यकता नहीं रहेगी | उत्तमोत्तम औषधि तैयार करनी होगी; जरूरत होने पर वह मिलेगी, लेकिन कोई उसको नहीं लेगा, क्योंकि सब आरोग्यवान् होंगे। क्योंकि मनुष्य की वृत्ति वैज्ञानिक (साइंटिफिक) हुई होगी। हवाई जहाज तो होंगे, फिर भी मनुष्य पैदल चलना पसन्द करेगा। हवाई जहाज की आवश्यकता कम रहेगी। जंगल में घूम रहे हैं और आनन्द ले रहे हैं। डॉक्टर हैं, लेकिन डॉक्टरों की जरूरत नहीं। ऐसे-ऐसे चश्मे तैयार हैं कि अन्धे को भी दीखने लगे; लेकिन कोई उसे लेता नहीं है; उसकी जरूरत ही नहीं है, क्योंकि आँख बिगड़ेगी ही नहीं । विज्ञान के जमाने में रात को बत्तियाँ नहीं जलेंगी; लोग नक्षत्रों की छाया में सोयेंगे। विज्ञान का उपयोग मनुष्य-श्रम कम करने में नहीं होगा, मनुष्य का बोझ हलका करने में और आरोग्य बढ़ाने में होगा। ईसामसीह ने कहा है कि 'इस धरती पर स्वर्ग लाना है'; यह तभी सम्भव है, जब अध्यात्म-विद्या के मार्ग-दर्शन में विज्ञान चले। मेरा विश्वास है कि दोनों मिलकर धरती पर स्वर्ग ला सकेंगे । [कलकत्ता; २८-६-'६३]

२. सियासत + विज्ञान = सर्वनाश

रूहानियत + विज्ञान = सर्वोदय

मैंने कहा कि इस विज्ञान के जमाने में अब सियासत में कोई ताकत नहीं रह गयी है । इन्सान के हाथों में नये-नये हथियार आ गये हैं। इसलिए अगर फूट और तफरके बढ़ानेवाली सियासत बढ़ेगी, तो इन्सान का खात्मा होनेवाला है । पार्टीवाले यह बात महसूस नहीं करते, यह उनकी जहालत है। असली बात तो यह है कि आज नये-नये हथियारों की ईजाद हो रही है और वे हथियार ऐसे खतरनाक हैं कि उनकी बदौलत एक दिन दुनिया का खात्मा होने की नौबत भी आ सकती है, अगर हमारे तफरके बढ़ें। इसलिए समझदार लोगों को चाहिए कि वे सियासत को दूर करें और रूहानियत से अपने मसले हल करें। मिली-जुली, जोड़नेवाली सियासत चाहिए। आज तक जो सियासत रही, वह जोड़नेवाले नहीं, तोड़नेवाली ही रही। इसलिए मैं 'सियासत' लफ्ज ही छोड़ देना चाहता हूँ।

आखिर रूहानियत ही रास्ता

जब तक आप रूहानियत का रास्ता न लेकर सियासत का ही रास्ता लेंगे, तब तक आपके मसले हल होनेवाले नहीं हैं। अल्जीरिया, कोरिया, तिब्बत, ताइवान, हिन्दएशिया, कश्मीर—ऐसे कई मसले हैं ! ये सब सियासत के पैदा किये हुए मसले हैं। पुराने मसले कायम हैं और नये भी पैदा हो रहे हैं। इसलिए सियासत से आपके मसले हल होनेवाले नहीं हैं। मेरी बात पार्टीवालों में से कुछ लोग समझ रहे थे। वे रूहानियत का नाम लेते थे। रूहानियत का नाम सबको प्यारा है, उनको भी प्यारा था। इसलिए वे कबूल करते थे। लेकिन कबूल करके फिर से अपना टट्टू पुरानी राह पर ही लाते थे।

मैंने मजाक में कहा : "तुम मर जाओगे, तो तुम्हारे लड़के रूहानियत को उठा लेंगे !" वे कहने लगे : "हमने जो चीज चलायी, वही हमारे लड़के भी उठायेंगे।" मैंने कहा : "ठीक है, तुम्हारे लड़के नहीं उठायेंगे, लेकिन तुम्हारे लड़के के लड़के यानी तीसरी पीढ़ी रूहानियत को उठा लेगी। सियासत से मसले हल नहीं होंगे, क्या यह बात चौथी पीढ़ी के खयाल में भी नहीं आयेगी ?'' इस तरह उनसे मैंने कहा, किन्तु अपनी बात मैं उनको पूरी तरह समझा नहीं सका। मैंने हार माल ली।

मैं पार्टीवाली सियासत के खिलाफ

आज सभी जगह पार्टावाली बात चल रही है। नयी-नयी पार्टियाँ बन रही हैं, पुरानी पार्टियाँ मजबूत की जा रही हैं। लेकिन सियासी पार्टियों से काम नहीं बनेगा। इसलिए एक ऐसी स्वतन्त्र जमात चाहिए, जो गैरजानिबदार होकर अवाम की खिदमत करेगी। आपको मालूम है कि इस समय मैंने अपनी आवाज इस पार्टीवाली सियासत के खिलाफ उठायी है। इसके लिए गाँव-गाँव की मिली-जुली ताकत खड़ी करनी होगी। हुकूमत विकेन्द्रित करनी होगी, अपनी सारी ताकत रूहानियत की राह पर लगानी होगी और जज्बा पैदा किये बिना चर्चा करके मसले हल करने होंगे। मैं यह एक नयी चीज समझा रहा हूँ।

लोगों की ताकत बनायें

पार्टीवाले लोग भी अच्छी और सच्ची नीयत से खिदमत करना चाहते हैं, लेकिन वे कर नहीं पाते । एक पार्टी खिदमत करने जाती है, तो दूसरी पार्टी उसकी तरफ शक-शुबह की निगाह से देखती है।

दूसरी पार्टी खिदमत करती है, तो पहली उसकी तरफ शक की निगाह से देखती है । इस तरह देखने का नतीजा यह होता है कि जिनकी खिदमत होनी चाहिए, उनकी खिदमत नहीं होती। सरकार से थोड़ी खिदमत होती है, पर उससे लोगों की ताकत नहीं बन पाती। लोगों की ताकत नहीं बनती, यह बहुत बड़ी बात है । मगरिब (पश्चिम) से जो सियासत आयी, उसने हमें तोड़ा है । पहले से ही यहाँ तफरके, टुकड़े मौजूद थे, मगरीबी सियासत ने और बढ़ा दिये। मजहब के भेद, जबान के भेद, जाति के भेद— इस प्रकार से तरह-तरह के भेद मौजूद थे। वे उस सियासत के कारण और भी बढ़े | अलग-अलग पार्टियाँ बनीं । भेदों में इजाफा हुआ। एक-एक पार्टी में महत्त्वाकांक्षी लोग होते हैं। वे भी अपना-अपना गुट बनाते हैं। एक-एक मन्त्री का अपना एक-एक गुट रहता है। अनेक पार्टियाँ, फिर एक-एक पार्टी के अलग-अलग गुट, गुट के गुट ! नतीजा यह होता है कि देश की ताकत नहीं बनती।

लश्कर सियासत पर हावी न हो

पाकिस्तान में अयूब आया। उसी वक्त एकदम सब पोलिटिकल पार्टियाँ खतम हो गयीं। उनके दफ्तरों पर ताले लग गये ! यानी ताकत के सामने सियासत की कुछ नहीं चलेगी । 'मॉडर्न मैशिनाइज्ड आर्मी' जिनके हाथ में रहेगी, कुल सियासत उन्हींके हाथ में जायेगी। उनके सामने वह खतम भी हो सकती है। जिनके हाथ में लश्कर की ताकत रहेगी, उन्हींके हाथों में ये सियासतदाँ भी रहेंगे। इससे आगे जो लोग रूहानियत की राह पर चलेंगे, वे उनकी तलवार छीन लेंगे। उनकी तलवार छीनने के लिए इनको अपने हाथ में तलवार उठाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। जिनके हाथों में आज तलवार है, उनके दिल और दिमाग में ये रूरनियत की राह पर चलनेवाले लोग बैठेंगे। नतीजा यह होगा कि जिन्होंने अपने हाथों में तलवार उठायी है, वे खुद-ब-खुद वह तलवार कारखानों में हल बनाने के लिए भेज देंगे।

आनेवाला जमाना मेरा

अभी मैं लश्करवालों के सामने बोलकर आया हूँ। मेरी यह खुश-किस्मती है कि मुझे उनके सामने बोलने का मौका मिला। इसका कारण यह है कि मैं सियासत से अलग हूँ। सियासतवाला कोई हो, तो वह लश्कर के सामने बोलने के लिए नहीं जा सकता। वहाँ भी मैंने अपनी रूहानियत के विचार उनके

सामने रखे। रूहानियत की बात उनको भी जँचती है। मैं मायूस नहीं होता। इसलिए कि मैं जानता हूँ कि आनेवाला जमाना मेरा है, आपका नहीं, नेताओं का नहीं।

आज इन सियासतदाँ का बड़ा जोर है। लेकिन आप देखेंगे कि एक वक्त ऐसा आयेगा, जब जिन हाथों ने एटम बम बनाया, वे ही हाथ उन बमों को छोड़ेंगे और लोगों की खिदमत में लगेंगे। जितने लोग सियासत से अलग रहकर रूहानियत का आसरा लेंगे, पनाह लेंगे, वे लोग विज्ञान के जमाने में टिकेंगे नहीं। विज्ञान के जमाने में रूहानियत रास्ता दिखलायेगी और विज्ञान रफ्तार बढ़ायेगा। मोटर में एक यन्त्र राह दिखानेवाला और दूसरा रफ्तार बढ़ानेवाल होता है। विज्ञान आपकी जिन्दगी की रफ्तार बढ़ायेगा और रूहानियत जिन्दगी को दिशा दिखायेगी। इस तरह दोनों की मदद से आपकी जिन्दगी चलेगी। अगर सियासत बीच में आयेगी और जिन्दगी में दखल देगी, तो आपकी मोटर गड्ढे में जायगी।

सर्वनाश बनाम सर्वोदय !

रूहानियत और विज्ञान एक हो जायँ, तो दुनिया में बिहिश्त (स्वर्ग) उतरेगा, यह आप खूब समझ लीजिये। विज्ञान का फायदा उठाना है, उससे काम लेना है, तो उसके साथ रूहानियत को जोड़ना होगा। और अगर उसका फायदा न उठाना हो, उसके बदौलत मर मिटना हो, तो बीच में सियासत लानी चाहिए।

इन्सान इस तरह नाहक खतम होना नहीं चाहता। पर होता क्या है ? अलग-अलग पार्टी के लोग एक-दूसरे से मिलते भी नहीं हैं। चुनाव आता है तब एक पार्टी के लोग अवाम से कहते हैं कि तुम हमें चुनकर दो, तो हम तुम्हें जन्नत में ले जायेंगे। दूसरी पार्टी को चुनकर दोगे, तो वह तुम्हें जहन्नुम में ले जायगी। ठीक इसी तरह दूसरी पार्टीवाले भी अवाम से बोलते हैं। यानी अवाम के सामने एक-दूसरे को गाली देना, नुक्ताचीनी करना ही उनका प्रोग्राम रहता है। फिर आपस में टकराते हैं। मेरा राज चला, तो वे मुझसे टकराते हैं, उनका राज चले, तो मैं उनसे टकराता हूँ—इस तरह होता है। तब बीच में अवाम तबाह हो जाती है। फिर देखते-देखते लश्कर-राज आ जाता है।

दिल और दिमाग नया बने

आप देख रहे हैं कि हर सूबे में निर्माण का बहुत बड़ा प्रयत्न हो रहा है। लेकिन क्या नया समाज बन रहा है ? क्या पुराने दिमागवाले पुराने इन्सान में कुछ फर्क पड़ रहा है ? क्या कुछ नयी कद्रें (वैल्यूज) बन रही हैं ? अगर इन सब सवालों का जवाब 'नहीं' है और आज भी अगर वे ही पुराने झगड़े, फिरकापरस्ती, तंगदिली, छोटे-छोटे जज्बात हैं, तो फिर मकानात, खेती और सड़कों में फर्क होने से आखिर क्या होगा ? वैसे तो सैलाब आये या जलजला हो जाय, तब भी कया फर्क नहीं पड़ेगा ? अस्सी फीसदी मकानात वगैरह ढह जायेंगे, उन्हें नये सिरे से बसाना होगा। पर नया बसा लेने से हुआ क्या ? कुदरत, मकानात, कपड़े, पहनने का ढंग आदि सब बदला, लेकिन दिल और दिमाग में कोई बदल नहीं हुआ, तो इतना ही होगा कि पुराने जमाने में जो झगड़े छोटे पैमाने पर होते थे, वे अब विज्ञान की वजह से बड़े पैमाने पर होंगे। दिल और दिमाग में फर्क न पड़ने से इन्सान की जिन्दगी में इन्कलाब नहीं आ सकता। रूस में कम्युनिज्म आया, तो क्या हुआ ? जार के हाथ में जो ताकत थी, उससे ख्रुश्चेव के हाथ में क्या कम है ? जार गया और स्टालिन आया। अब स्टालिन गया और ख्रुश्चेव आया। कुछ साल पहले यहाँ पर बुल्गानिन और ख्रुश्चेव आये थे। यहाँ पर उनकी खूब पूजा-अर्चा हुई। उसके बाद उन दोनों में मुखालिफत हुई, तो अब बुल्गानिन का पता ही नहीं है ! पहले राजाओं के जमाने में जो होता था, वही इस जमाने में भी हुआ। इन्कलाब तब होता है, जब प्यार से दिल बदलता है।

नया इन्सान बनाइये

आज सरकार कुछ काम करती है, लेकिन गाँव-गाँव के लोग क्या कहते हैं ? क्या वे मिल-जुलकर काम करने लगे हैं ? जमीन की मालिकी मिटाने लगे हैं ? अपना मन्सूबा बनाने लगे हैं ? अगर यह सब होता है, तो नया इन्सान बनेगा; नहीं तो नयी दुनिया बन जायगी, तब भी नया इन्सान नहीं बनेगा! सरकार की तरफ से जो काम किया जाता है, उससे दुनिया बनती है, लेकिन नया इन्सान नहीं बनता। नया इन्सान बनाने का काम वे करते हैं, जो रूहानी ताकत को पहचानते हैं । माली हालत बदलने की बात बाहर की चीज है । अन्दर की चीज बदलनी हो, तो रूहानी ताकत चाहिए। नयी राह पर चलकर रूहानी ताकत बढ़ाने की हमारी यह एक छोटी-सी कोशिश हो रही है।

हर इन्सान में ताकत पड़ी है। अगर हम ताकतों को जोड़न चाहते हैं, तो जोड़नेवाली तरकीब चाहिए। जोड़नेवाली तरकीब सियासत या मजहब नहीं, रूहानियत ही हो सकती है। मैंने मजहब और रूहानियत में जो फर्क किया है, उसे समझने की जरूरत है। मजहब पचास हो सकते हैं, लेकिन रूहानियत एक ही है । मजहब, सियासत, जबानें चन्द लोगों को इकट्ठा करती हैं और चन्द लोगों को अलग करती हैं। लेकिन रूहानियत कुल इन्सानों को एक बनायेगी। [कुकरनाग, कश्मीर; २०-८-'५९]

३. समन्वय का प्रयास

हिन्दुस्तान में आजादी के बाद जो कुछ हमने छोटा-बड़ा काम किया, उसका असर दुनिया पर कुछ-न-कुछ तो हुआ ही। हम किसी गुट में शामिल नहीं होते, अपनी स्वतन्त्र हस्ती और विचार रखते हैं—इसकी कद्र सारी दुनिया करती है। यूरोप, अमेरिका आदि देशों से लौट आनेवाले कहा करते हैं कि भारत के बारे में दुनिया के लोग बड़ी आशा रखते हैं। यहाँ की विदेश-नीति बड़ी अच्छी है। उससे दुनिया को शान्ति की राह मिलेगी।

भारत में जो भूदान-ग्रामदान का काम चला है, उससे भी दुनिया के लोगों को लगता है कि इस काम में कुछ ऐसी चीज है, जिससे आज की देश-देश की समस्याएँ हल करने का मार्ग खुल जायगा। इसीलिए हमारी यात्रा में बीच-बीच में यूरोप, अमेरिका, एशिया आदि मुल्कों के कई लोग आते हैं। वे हमारे साथ घूमते हैं, अपने-अपने देशों में जाकर ग्रन्थ तथा लेख लिखते और आशा रखते हैं कि दुनिया में शान्ति-स्थापना के लिए इसमें से कुछ तथ्य अवश्य निकलेगा।

विश्व-नागरिकता की ओर

बचपन में हमें स्कूल में अनेक विषयों का ज्ञान सिखाया जाता था, लेकिन हमारा चित्त इसीमें लगा रहता था, देश कैसे मुक्त हो और उसके लिए हम क्या करें ? बचपन से ही हमारा लक्ष्य भारत को आजाद बनाने का रहा है। किन्तु आज के लड़के तो स्वतन्त्र भारत के विद्यार्थी हैं । इसलिए वे विश्व-नागरिक बन सकते हैं। अब यदि हम अपने देश को ठीक ढंग से बनायें, शान्ति की ताकत कायम करें, तो अपना असर कुल दुनिया पर डाल सकते हैं। अब दुनिया और हमारे बीच कोई पर्दा नहीं रहा। यहाँ के अच्छे काम दुनिया में फैलेंगे और उसका दुनिया पर असर होगा। बुरे काम का भी दुनिया पर असर

होगा। अब हमारे अच्छे-बुरे काम सीमित नहीं रह सकते, बल्कि दुनिया के बाजार में उपस्थित किये जायेंगे। इसलिए हम कदम-कदम पर सोचें और ऐसा काम करें, जिससे औरों को भी यह मालूम पड़े कि भारत की ताकत एक काम में जुट गयी है। यहाँ की लगभग ३७ करोड़ की जमात अपने देश का वैभव बढ़ाने और कुल दुनिया की सेवा करने के लिए शान्ति और स्वतन्त्रता के स्थापनार्थ अग्रसर हो रही है।

आप दुनिया के केन्द्र में

महाराज अशोक ने अपने जमाने में भगवान् बुद्ध के धर्म-चक्र-प्रवर्तन का काम हाथ में लिया। वह कार्य संस्थाओं के जरिये भारत में फैला, किन्तु पिछले दो-ढाई हजार वर्षों में दूसरा ऐसा मौका नहीं मिला, जैसा आज मिल रहा है। फिर अशोक के जमाने में जो धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया गया, वह तो सीमित रहा; क्योंकि उस जमाने में विज्ञान नहीं था। लेकिन विज्ञान ने आज प्रचार का दरवाजा खोल दिया है। विचार का संचार फौरन् दुनिया में हो जाता है । इसीलिए कहना पड़ता है कि अशोक के जमाने में भी जो मौका हिन्दुस्तान को नहीं मिला, वह आज मिला है। अतएव यह मत समझिये कि सीकर जिला हिन्दुस्तान के एक कोने में है और दुनिया के साथ उसका सम्बन्ध ही नहीं है। बल्कि यही समझें कि इस समय आप दुनिया के मध्यस्थान में हैं और जो भी काम करते हैं, उसका प्रभाव सारे विश्व पर होता है। आप अगर झगड़ते हैं, तो इंग्लैण्ड के लोगों को उसकी जरूरत नहीं है। वह तो वहाँ भी चलता है—द्वेष चलता है, स्वार्थ चलता है। इसलिए अब आप कोई ऐसा ठोस कदम उठायें, जिससे दुनिया को मार्ग मिले।

हमने अंग्रेजी में एक भी लेख नहीं लिखा। फिर भी जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि में हमारे आन्दोलन की बातें फैल गयीं। कारण स्पष्ट है। दुनिया को उसकी प्यास है। कहीं भी हम कुआँ खोदें, तो प्यासे लोग समझते हैं कि इसकी जरुरत है। इसलिए आपके सामने सवाल यही है कि अपने गाँव में कौन-सा ऐसा काम कर रहे हैं, जिससे दुनिया के नागरिक के नाते आप दुनिया को कुछ दे सकें ? आप भोजन करते हैं, खाना खाते हैं, सिनेमा देखते हैं और अन्य स्वार्थ भी साधते हैं, लेकिन ये सारी प्रवृत्तियाँ दुनिया के लिए मार्ग- दर्शन का काम नहीं कर सकतीं। विश्व-नागरिकता का विचार ही विज्ञान-युग का वास्तविक विचार है। [रामगढ़, राजस्थान; २०-१-'५९]

सर्वोदय की बुनियाद

पहले कन्याकुमारी में समुद्र के किनारे बैठकर हमने प्रतिज्ञा की थी कि "जब तक भारत में ग्राम-स्वराज्य की स्थापना नहीं होगी, तब तक हम घूमते ही रहेंगे।'' यही प्रतिज्ञा हमने 'पीरपंजाल' पर बर्फ पर ध्यानस्थ बैठकर दुहरायी थी। इस तरह वह विचार हवा में फैल गया है । हिन्दुस्तान को ग्राम-स्वराज्य की दिशा में जाना होगा और वह जायगा। राज्यों की तरफ से आज कोशिश हो रही है कि ग्रामों को अधिकार मिले। उन कोशिशों में बहुत ढील है। उसमें कई नुक्स हैं, फिर भी दिशा ठीक है। वह सारा विचार सुधारना होगा, फिर देश में एक हवा बन जायगी। फिर ग्रामदान, भूदान, सर्वोदय, ग्राम-स्वराज्य आदि का विचार गाँव-गाँव पहुँचाया जायगा और हिन्दुस्तान में ग्राम-स्वराज्य होगा, इसमें कोई शक नहीं है। इससे हम अपना अधिक-से-अधिक पुरुषार्थ, जितना खर्च कर सकते हैं, करने की निरन्तर कोशिश करें ।

हृदय-प्रवेश की प्रक्रिया

इस समग्र कार्य की बुनियाद आध्यात्मिक और नैतिक है। आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना किये बिना सर्वोदय-विचार प्रतिष्ठित नहीं होगा। वैसे उन मूल्यों का चिन्तन करनेवाले पहले के ऋषि मानते थे, लेकिन समाज ने उनको नहीं माना। हम उन मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं, इसीलिए आगे की यात्रा में जरा गहराई में जायेंगे और मूल संशोधन करेंगे । उसमें जितना हृदय-प्रवेश और हृदय-परिचय कर सकते हैं, करेंगे। हृदय-प्रवेश की एक प्रक्रिया होती है, जिसका हमें ज्ञान है। फिर भी वह कितनी सधेगी, हम नहीं कह सकते । प्रक्रिया यह है कि निज देह-बन्धन ढीला पड़े। हम देह के बन्धन में बँधे हुए हैं, वह ढीला पड़े बिना हृदय-प्रवेश नामुमकिन है। हमारी कोशिश यह रहेगी कि वह बन्धन, जिसमें इस शरीर के साथ जीवात्मा जकड़ा हुआ है, वह छूटे, ढीला पड़े । हम यह कोशिश करते रहेंगे, तो सहज ही बाहरी बहुत सारी चीजों को हम छोड़ देंगे। अब हम स्थूल विचार लोगों पर छोड़ेंगे और मूलभूत बुनियादी विचार ही रखते जायेंगे। बाकी जितना करना है, लोग ही करेंगे। हम सिर्फ समझा देंगे, उससे ज्यादा कुछ नहीं करेंगे। इसीसे देश की ताकत बनेगी।

विचारों में शक्ति

अक्सर हम देखते हैं कि लोग मार्ग-दर्शन करना चाहते हैं, राह दिखाना चाहते हैं, जिससे बहुत-सी पार्टियाँ बनती हैं । उनमें ऊपर से नीचे मार्ग-दर्शन दिया जाता है, 'डिसिप्लिन'—अनुशासन—लादा जाता है और संगठन को कसकर बनाया जाता है। हर जमात को यही फिक्र रहती है कि हमारा संगठन मजबूत बने। यह गठन बनाने की बात हमें कभी नहीं जँची। इस प्रकार के संगठनों से सत्कार्य नहीं बन सकता। जिसमें जनता की वासना तरंगित हो, वह अवश्य ही सत्कार्य है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। यह जरूरी नहीं है कि जितना मजबूत संगठन बनेगा, उतना कार्य बनेगा। बहुतों का हमारी विचार-पद्धति पर यही आक्षेप है कि बाबा बहुत हवा पैदा करता है, लेकिन संगठन नहीं करता है। अगर कसकर संगठन बनाता, तो सब काम हो जाते। लेकिन हमें विचारों की जितनी कीमत महसूस होती है, और दूसरी किसी चीज की नहीं। हम समझते हैं कि विचारों में शक्ति होती है। हम नहीं मानते कि विचारों के अलावा दूसरी किसी चीज में शक्ति होती है। लेकिन लोग संगठन-शक्ति में विश्वास करते हैं।

मानव-जीवन की संकुचितता के कारण

मैं यह कहना चाहता हूँ कि ये सारे संगठन अपने ही वजह से गिरनेवाले हैं ! वे जिस आधार पर खड़े हैं, वे आधार ही इस विज्ञान के जमाने में खतम होनेवाले हैं। अब तो इधर विश्व रहेगा और उधर मानव । बीच की सब कड़ियाँ ढीली होनेवाली हैं। एक ग्राम को समूह मानकर मानव उसमें अपना सब कुछ समर्पण करेगा, समाज को सारा दान देगा, लेकिन उसका अपना विचार स्वतन्त्र रहेगा। स्वतन्त्र मानव और विश्व, इन दोनों के बीच जकड़नेवाली कोई कड़ी विज्ञान सहन नहीं करेगा। आज तक जातियों ने, विधि-विधानों ने मानव को बहिष्कार आदि से जकड़ रखा था। अनेक धर्म-पन्थों ने मानव को नाना उपासनाओं में जकड़ रखा था। अनेक पुस्तकों ने अपना भार सिर पर डालकर मानव को जकड़ रखा था। मैं कहना चाहता हूँ कि मैं किसी पुस्तक का भार सिर पर नहीं उठाना चाहता। अगर हम मानें कि किसी पुस्तक में जो लिखा है, उसमें से हर वाक्य भगवत्-वाक्य है, उस पर सोचना नहीं है, तो मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जायगी, स्वतन्त्र बुद्धि नहीं रहेगी। अनेक लोगों ने राष्ट्र-भावना पैदा करके मनुष्यों की बुद्धि को संकुचित कर दिया है। इन सब कारणों से मनुष्य-जीवन संकुचित बना है।

अध्यात्म-विद्या और विज्ञान की एकवाक्यता

अध्यात्म-विद्या इन सबके खिलाफ पहले से ही खड़ी थी। लेकिन अब विज्ञान भी इनके खिलाफ बोल रहा है। जाति, धर्म, पन्थ, राष्ट्र—ये सारे काल्पनिक भेद छोड़ो, यह बात वेदान्त पहले से ही कहता आया है। चन्द लोग इसे सुनते थे और बहुत थोड़े लोगों के दिमाग में वह बात बैठती थी। अब ये विचार बहुत दूर के नहीं रहे हैं। इनके बिना हमारा चल जायगा, हमारे जीवन के लिए उनकी जरूरत नहीं है, ऐसी परिस्थिति अब नहीं रही । अब तक हम इन विचारों को ऊँचे ताक पर रखते थे और छोड़ देते थे। लेकिन अब जाति, पन्थ, राष्ट्र आदि भेदों को छोड़ने की वही बात विज्ञान बोल रहा है। इस तरह एक बाजू से विज्ञान और दूसरी बाजू से वेदान्त, ब्रह्म-विद्या, दोनों एक ही चीज कह रहे हैं और उन भेदों पर प्रहार कर रहे हैं। इसलिए समझना चाहिए कि सियासी और मजहबी लोगों ने अब तक अपने जो कुछ फिरके बनाये हैं, वे आखिरी साँस ले रहे हैं। इसके बाद उन्हें खतम होना है। खुशी की बात है कि हमारे बड़े-बड़े राजनीतिक नेता उसूलन इसे मानते हैं। मैं कहता हूँ कि उसूलन मानते हो, यह तो अच्छी बात है। अब आप अपने व्यवहार को उससे कितना भी दूर रखो, तो भी आखिर वह चीज आप पर आ गिरेगी और आपको उसे कबूल करना होगा। एक बात को उसूलन मानने पर उसे कब तक टाल सकोगे और अपना पुराना रवैया कब तक चला सकोगे।

राजशक्ति सीमित हिंसा को लेकर काम करती है

इन दिनों बहुत-से लोग बड़ी-बड़ी बातें करते हैं और हिंसा के खिलाफ बोलते हैं। इसके मानी यह नहीं कि वे अहिंसा में निष्ठा रखते हैं। इन दिनों कई लोग 'न्यूक्लीयर वेपन्स' के खिलाफ खड़े हैं। वे कहते हैं कि दुनिया के हित के लिए उनका प्रयोग नहीं होना चाहिए। इस तरह जोर-शोर से कहनेवाले अहिंसक नहीं होते हैं। वे तो घबड़ाये हुए हैं। वे समझते हैं कि 'न्यूक्लीयर वेपन्स' आयेंगे, तो अपने 'कनवेन्शनल वेपन्स' नहीं चलेंगे, जिनको वे चलाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि अपना दबदबा बना रहे, ताकि दण्ड-शक्ति के आधार पर हम समाज को कसकर बाँध सकें और अपना राज चला सकें। उन्हें भय है कि इन नये अस्त्रों के कारण उनके पुराने शस्त्र टूट पड़ेंगे। वे लोग अहिंसा के हित में नहीं, बल्कि सीमित हिंसा के हित में बोल रहे हैं । राज-शक्ति सीमित हिंसा को लेकर काम करती है। उन लोगों को

भय है कि उनकी दण्ड-शक्ति अब काम नहीं करेगी, इसलिए वे 'न्यूक्लीयर वेपन्स' के खिलाफ बोल रहे हैं।

जागतिक युद्ध अहिंसा के निकट है

हम भी 'न्यूक्लीयर वेपन्स' के खिलाफ हैं। लेकिन हमने कहा है कि हमें 'वर्ल्ड वार' (विश्व-युद्ध) का कोई डर नहीं है। हम 'वर्ल्ड वार' से कहते हैं कि तू आना चाहे तो जल्दी आ जा ! मुझे तेरा डर नहीं है। मुझे तो डर इन छोटे-छोटे शस्त्रास्त्रों का है। लाठी, कृपाण, बन्दूक, तलवार—ये सारे भयानक शस्त्र हैं। ये खतम होने चाहिए। इन्हींके कारण दुनिया में अशान्ति और भय पैदा होता है। 'वर्ल्ड वार' मानव नहीं लाता है । वह तो 'डिवाइन' (दैवी) होता है । जब परमेश्वर चाहता है कि संहार हो, तब वह मानवों को प्रेरणा देता है। उस हालत में मेरे जैसे की क्या मजाल रहेगी कि मैं अहिंसा की बात करूँ! फिर तो मेरे हाथ में भी तलवार आयेगी। ईश्वर के खिलाफ कौन टिक सकता है ? अगर ईश्वर चाहता है कि हमारा मानव-समाज साफ हो जाय और फिर 'क्लीन स्लेट' (कोरी पाटी)—हो जाय और फिर से नयी दुनिया पैदा हो, तब वह सब कर सकता है। कल अगर भूकम्प हो जाय या सारी पृथ्वी जलमय हो जाय और अफ्रीका के वीरान जंगलों में थोड़े-से लोग रहते हैं, वे ही बच जायँ, तो फिर नये सिरे से 'सिविलाइजेशन' (सभ्यता) का आरम्भ होगा। फिर वे लोग याद करेंगे कि पहले हवाई जहाज भी थे। फिर वे रामायण जैसे महाकाव्य लिखेंगे। वे लोग यह भी लिखेंगे कि एक जमाने में ब्रह्मास्त्र चलता था, जिससे सब लोग मूर्च्छित हो जाते थे। मानव के विकास की नये सिरे से शुरुआत होगी। अगर ईश्वर यही चाहता है, तो उसे कौन रोकनेवाला है ? इसलिए उसकी मुझे कोई फिक्र नहीं । हम 'वर्ल्ड वार' से डरते नहीं हैं । हम समझते हैं कि 'वर्ल्ड वार' अहिंसा के बिलकुल नजदीक है। जैसे वर्तुल के दो सिरे बिलकुल नजदीक होते हैं, वैसे ही 'वर्ल्ड वार' और अहिंसा बिलकुल नजदीक हैं। यह समझने की जरूरत है । 'वर्ल्ड वार' खतम होने पर अहिंसा को ही जगह मिलनेवाली है। बीच में शस्त्रास्त्र आदि कुछ नहीं रहेंगे । [कस्तूरबाग्राम, इन्दौर, म० प्र०; ३१-८-'६०]

४. समन्वय-योजना

येलवाल में आयोजित ऐतिहासिक ग्रामदान-परिषद् में सारे भारत के विभिन्न विचारवादी आये और दो दिनों तक चर्चा करने के बाद उन्होंने देश को एक संहिता दी। उस संहिता में दो शब्द हैं, जो हमारे लिए द्विविध आशीर्वाद हैं। उसमें उन्होंने लिखा है : "विनोबा ने सामाजिक मसले हल करने के लिए जो अहिंसात्मक और सहयोगी पद्धति अपनायी है, वह हमें मान्य है।" इस तरह उन्होंने हमारे काम में दो चीजें देखीं। एक यह कि इसकी पद्धति अहिंसात्मक है, जो प्राचीन आशीर्वाद है और दूसरी यह कि यह सहयोगी पद्धति है, जो आधुनिक आशीर्वाद है।

सर्वोदय-विचार आध्यात्मिक और वैज्ञानिक

'अहिंसात्मक' और 'सहयोगी' ये दोनों पद्धतियाँ हमारे सर्वोदय के कार्य में जुट जाती हैं। अहिंसात्मक पद्धति आत्मा कौ एकता के अनुभव पर आधारित है। वह आध्यात्मिक विचार है; और सहयोगी पद्धति विज्ञान पर आधारित है। इस तरह आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दोनों का योग सर्वोदय में हुआ है। इसलिए यह नेताओं को मान्य हुआ । सर्वोदय का विचार आध्यात्मिक और वैज्ञानिक, दोनों दृष्टियाँ मिलकर बनता है। कुछ लोग समझते हैं कि 'सर्वोदय' का अर्थ दकियानूस है, किसी तरह के वैज्ञानिक शोधों की कीमत ही नहीं समझते, मिल की अपेक्षा चरखे को पसन्द करेंगे, चरखे की अपेक्षा तकली को पसन्द करेंगे, लोहे की तकली की अपेक्षा लकड़ी की तकली को पसन्द करेंगे। और अगर कोई उससे भी आगे बढ़कर हाथ से सूत काते, तो उसे वे सबसे अधिक पसन्द करेंगे। सर्वोदय का आध्यात्मिकता के विषय में तो किसीको शक नहीं था; किन्तु इसकी वैज्ञानिकता के बारे में सन्देह अवश्य था। अब दोनों विषयों में निस्सन्दिग्धता हो गयी और हमें द्विविध आशीर्वाद मिले हैं।

लाओत्से की योजना : केवल अहिंसात्मक

वैज्ञानिकता के अभाव में अहिंसात्मक आध्यात्मिक योजना कैसे होगी, इसके लिए हम एक मिसाल देते हैं। चीन में लाओत्से नामक एक दार्शनिक हो गये हैं। उन्होंने आदर्श ग्राम की कल्पना बतायी है कि ऐसे ग्राम में कुल चीजों में स्वावलम्बन होता है, बाहर से कोई भी चीज लाने की जरूरत नहीं पड़ती। गाँववाले गाँव से सभी प्रकार से परितुष्ट रहते हैं। लेकिन रात में दूर से उन्हें कुत्तों की आवाज

सुनाई देती है, इसलिए वे अनुमान करते हैं कि नजदीक में जरूर ही कोई गाँव होना चाहिए। यही है वैज्ञानिकता के अभाव में अहिंसात्मक योजना। इसमें कोई गाँव किसी गाँव की हिंसा नहीं करता। किसी गाँववाले दूसरे किसी गाँववालों से मिलने नहीं जाते। सम्पर्क की कोई जरूरत ही नहीं मानते । जब हम सर्वोदय की बात कहते थे, यहाँ के नेता समझते थे कि ये लोग बहुत करके लाओत्सेवाली योजना करना चाहते हैं।

स्टालिन की योजना : केवल सहयोगी

अब आध्यात्मिकता के अभाव में—अहिंसा के अभाव में—वैज्ञानिक योजना कैसी होती है, यह देखिये। उसके लिए रूस का उदाहरण लें। वहाँ सब खेती इकट्ठा कर दी गयी है। किसीसे पूछा तक नहीं जाता कि तुम इसके लिए राजी हो या नहीं ? खेती के बारे में बैलों से कभी सलाह नहीं ली जाती। इसी तरह वहाँ साधारण जनता का योजना बनाने में कोई हाथ नहीं। योजना सरकार ही बनायेगी और तदनुसार सबको करना पड़ेगा। बैलों का धर्म है, पूरा काम करना और व्यवस्थापकों का काम है, बैलों को पेटभर खिलाना। इस योजना में खाना-कपड़ा सबको मिलेगा । भौतिक आवश्यकताओं की कमी नहीं होगी। लेकिन कोई आपकी सलाह न लेगा, आपको अपने विचारों को आचार में उतारने की आजादी नहीं रहेगी।

सर्वोदय में दोनों का समन्वय

इस तरह लाओत्सेवाली योजना और स्टालिनवाली योजना ऐसी दो योजनाएँ आपके सामने रखी हैं। लाओत्से की योजना पर 'अहिंसात्मक' विशेषण लागू होता है, तो स्टालिन की पद्धति को 'सहयोगी' कह सकते हैं। लेकिन सर्वोदय में दोनों का समावेश हुआ है। यह 'अहिंसात्मक और सहयोगी' कही गयी है और इसलिए इसे देश के सभी विभिन्न विचारकों का आशीर्वाद प्राप्त हो गया है । [मैसूर; २५-९-'५७]

हमें विश्व-मानव बनाना है

हमारा प्रथम कर्तव्य क्या है ? एक दिन पवनार में 'आजाद-हिन्द-सेना' के एक भाई हमसे मिलने आये थे। आते ही उन्होंने 'जय हिन्द' किया। हमने उत्तर दिया 'जय हिन्द, जय दुनिया, जय हरि।' इस

तरह हमने सूचित किया कि 'जय हिन्द' में भी खतरा हो सकता है, इसलिए 'जय दुनिया' कहना चाहिए और आखिर में परमेश्वर का नाम तो होना ही चाहिए। हमें सोचना है कि हम सर्वप्रथम कौन हैं। क्या हम सर्वप्रथम कन्नडिगा (कन्नडभाषी या कन्नड प्रान्त का निवासी) हैं, फिर भारतीय और उसके बाद मानव या सर्वप्रथम मानव, फिर भारतीय और उसके बाद कन्नडिगा ? उसके पीछे परिवारवाले और उसके पीछे देहगत ? आखिर हम हैं क्या ?

विश्व-नागरिकता : मूल्य-परिवर्तन का अमोघ मन्त्र

यह शिक्षण-शास्त्र का विषय है। पहले जब मैं आश्रम में शिक्षक का काम करता था, तो रहता वर्धा जिले में ही था। फिर भी बच्चों से वर्धा जिले की या महाराष्ट्र की ही बात नहीं करता था। बल्कि यही कहता था कि इस जगत् के निवासी हैं, विश्व-नागरिक हैं। आकाश के एक हिस्से में आकाश-गंगा है और दूसरा हिस्सा कोरा ही कोरा है। करोड़ों गोलकों के बीच एक सूर्य है। इतने बड़े गोलकों के सामने वह एक तिनका भी नहीं है। उस सूर्य के इर्द-गिर्द हमारी पृथ्वी घूमती है। उस पृथ्वी पर असंख्य (चतुर्विध) प्राणी हैं। वैज्ञानिक २०-२५ लाख प्रकार के प्राणी मानते हैं, तो हमारे पुराणों में उनकी ४८ लाख योनियाँ बतायी गयी हैं। जो भी हो, करोड़ों-लाखों की ही बात है, हजारों की भी नहीं । इतनी योनियाँ हैं कि उनमें व्यक्ति का कोई हिसाब ही नहीं। उनमें मानव एक छोटी-सी योनि है । उस मानव-समाज में भारत एक देश है। उसमें एक महाराष्ट्र प्रदेश है। उसके अन्दर वर्धा एक छोटा-सा जिला है। उसके अन्दर यह आश्रम है। उसमें दो खेत हैं और उसके अन्दर हम बिल्कुल शून्य हैं। हमारी कोई हस्ती ही नहीं है।

वेदों में तीन मन्त्रों का एक 'अघमर्षण सूक्त' है। उसे जपने से 'अघमर्षण' यानी पाप-निरसन होता है। उस सूक्त में कहा है कि "प्रारम्भ में ऋत और सत्य था; उससे सूर्य, चन्द्र आदि सृष्टि हुई, नक्षत्र हुए—" बस, खतम हुआ सूक्त। पूछा जा सकता है कि आखिर इस सूक्त के जप का पाप-निवारण से क्या सम्बन्ध है। इसका तात्पर्य यही है कि इसको जपने से इतने विशाल ब्रह्माण्ड की कल्पना मनुष्य के सामने आती है और उसके समक्ष हम कितने छोटे हैं, इसका भान होता है; तो अहंकार मिटता है। फिर पाप की प्रेरणा ही नहीं होती।

दूसरी मिसाल देखिये। माँ बच्चे को रोटी खिलाना चाहती है। पर वह कबूल नहीं करता, रोता ही रहता है। फिर माँ कहती है, ''देख, कौआ !" तो बच्चा कौए की ओर देखता है और उसका रोना खतम हो जाता है। आखिर बच्चे ने उस कौए में क्या देखा ? यही कि यह मेरा भाई है। उसे एकदम भान हुआ कि यह आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ। यह चेतन है और मैं भी चेतन हूँ। बस, वह एकदम उसके साथ एकरूप हो गया और अपना दु:ख भूल गया। भारतीयार (एक तमिल कवि) ने तमिल में एक सुन्दर काव्य लिखा है, जिसमें वह कहता है : "काकें कुरवै एंगल जाती' यानी कौए और चिड़िया की और हमारी एक ही जाति है। इस तरह स्पष्ट है कि जब हमारे ध्यान में यह आ जायगा कि हम पहले मानव हैं, पीछे भारतीय और पीछे कन्नडिगा, तब मूल्य ही बदल जायगा। ये छोटे-छोटे राग-द्वेष और मान-अपमान मेरे तो ध्यान में भी नहीं रहते। हम अभी हैं और शायद दो घण्टे के बाद न रहेंगे, इस हालत में ये सब कया चीजें हैं ?

ज्ञान के साथ हृदय भी विशाल हो

आज मनुष्य के हाथ में विशाल शक्ति आयी है। उसके साथ-साथ अगर उसका दिमाग छोटा रहा, तो मनुष्य के अन्तर में ऐसा विसंवाद पैदा होगा कि उसका व्यक्तित्व ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। पहले के जमाने में बड़े-बड़े सम्राटों को भी दुनिया का भूगोल मालूम नहीं था। अकबर कितना बड़ा सम्राट् था, लेकिन उसका भूगोल का ज्ञान क्या था ? जब अंग्रेज यहाँ आये और उसके दरबार में पहुँचे, तब उसे मालूम हुआ कि 'इंग्लैण्ड' नाम का कोई देश है। किन्तु आज छोटे बच्चे को भी दुनिया के भूगोल का ज्ञान रहता है । इतने विशाल और व्यापक ज्ञान के साथ-साथ अगर चित्त में छोटे-छोटे राग-द्वेष रहें, तो हम टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। ज्ञान की इस विशालता के अनुकूल हृदय भी विशाल होना चाहिए। तभी मानव यहाँ स्वर्ग ला सकेगा।

आज जो छोटे-छोटे काम हो रहे हैं, वे अलग हैं और समाज-क्रान्ति, समाज के उत्थान का काम अलग है। थोड़े-से भूमि-सुधार कर दिये या कहीं राहत या उत्पादन बढ़ाने का काम कर लिया—यह तो दुनियाभर में चलता ही है। अमेरिका में काफी उत्पादन होता है, दुनिया की आधी सम्पत्ति वहाँ है, लेकिन अन्त:समाधान नहीं है। शान्ति और निर्भयता नहीं है। वहाँ दूसरे देशों से कहीं अधिक आत्महत्याएँ होती हैं और तरह-तरह के पागल मिलते हैं। इसलिए इस बात में कोई मतभेद न होते हुए भी कि हमारे देश

में उत्पादन बढ़ाने की जरूरत है, उसके साथ-साथ मानव-हृदय का उत्थान भी आवश्यक है। हमारा जीवन का स्तर तो बढ़ना ही चाहिए, क्योंकि आज वह गिरा हुआ है, लेकिन साथ ही चिन्तन का स्तर भी ऊँचा उठना चाहिए।

ग्रामदान का आनन्द

ग्रामदान, भूदान आदि से जमीन का मसला हल होता है; यह तो छोटी बात है। बड़ी बात यह है कि इनसे चिन्तन का स्तर ऊपर उठता है। हमारा सारा गाँव एक परिवार बनेगा। वहाँ की हवा, पानी और जमीन—परमेश्वर की सारी देनें सबके लिए होंगी। हम परस्पर सहयोग से काम करेंगे। मैं अपने लिए नहीं, समाज के लिए काम करूँगा। सिर्फ अपनी नहीं, सारे समाज की चिन्ता करूँगा। ऐसी वृत्ति से सारा नैतिक स्तर बिलकुल ही बदल जाता है । इसलिए हमें इस आन्दोलन में उत्साह मालूम होता है। हमारी उम्र हो चुकी है, फिर भी थकान नहीं मालूम होती, क्योंकि अन्तर में एक अद्भुत आनन्द है । हम उसका शब्दों में वर्णन नहीं कर सकते। हम तो निरन्तर अमृत-पान कर रहे हैं और उसका थोड़ा-थोड़ा रस सबको पिलाना चाहते हैं।

भूदान-ग्रामदान से नये विश्व का निर्माण

हमें नया मानव बनाना है | पुरानी चीजें खतम हो गयीं। अब तो देशों की हदें भी टिक नहीं पातीं। एक बार आस्ट्रेलिया के एक भाई हमसे मिलने आये थे। उन्होंने पूछा कि दुनिया के लिए भूदान का अर्थ क्या है ? मैंने कहा : “यही कि आस्ट्रेलिया में काफी जमीन पड़ी है और जापान में कम है, इसलिए आपको जापानवालों को आमन्त्रण देना चाहिए।'' सुनकर बेचारा देखता ही रह गया। उसने कहा : “हाँ, हमारे पास जमीन काफी है, लेकिन हम चाहते हैं कि हमारी संस्कृति की रक्षा हो। इसलिए हमारी संस्कृति से मिलते-जुलते यूरोप के लोग आयें, तो हम उन्हें लेने के लिए राजी हैं ।” हमने कहा : “यही जहर है, जिसे खतम करने के लिए भूदान-यज्ञ चल रहा है।'' जापान की सभ्यता अलग, आस्ट्रेलिया, यूरोप और हिन्दुस्तान की सभ्यता अलग, हिन्दुओं की सभ्यता अलग और मुसलमानों की सभ्यता अलग—ये सारी अभद्र बातें मिटाने के लिए ही भूदान-यज्ञ है। भूदान में हमारे सामने कोई छोटी चीज नहीं है। हमें मानव-जीवन बदलना और नया विश्व निर्माण करना है।

यह आध्यात्मिक मूल्य-स्थापना का यत्न

ग्रामदान से भूमि-सुधार होता है, भूमि-समस्या हल होती है, यह सब तो ठीक है। किन्तु ये सब छोटे परिणाम हैं। दुनियाभर के लोग हमारी भूदान-यात्रा में शामिल होते हैं, तो वे यह देखने के लिए नहीं आते कि इससे भूमि-सुधार कैसे होते हैं। वे यहाँ देखने आते हैं कि किस तरह यहाँ आध्यात्मिक मूल्य स्थापित हो रहे हैं। इस वक्त दुनिया हिंसा से बिलकुल बेजार और हैरान है। सैनिक शक्ति से मसले हल नहीं हो सकते, यह निश्चित हो चुका है; फिर भी पुराना रवैया ही चल रहा है। हम आध्यात्मिक मूल्य स्थापित करने की बातें करते हैं, लेकिन न सेना कम करते हैं और न पुलिस का कार्य ही सीमित करते हैं। आज की हालत में तो हमारा बोलना, बोलना ही रह जायगा। इसलिए हिन्दुस्तान में जनता की ओर से यह प्रयत्न होना चाहिए कि हम नैतिक तरीकें चाहें। इसीके लिए शान्ति-सेना और ग्रामदान है। हम चाहते हैं कि आप लोग इस दृष्टि से इसका अध्ययन करें। हमारा एक ही जप है कि हमें विश्व-मानव बनाना है ! [बँगलोर, मैसूर; १८-१-'५७]

५. समन्वय की शक्ति : विश्वास

भारत की अपनी एक सभ्यता है। उसके पीछे हजारों वर्षों का इतिहास है। वेद, उपनिषद्, गीता, गुरु-वाणी आदि के जरिये यहाँ तक सद्विचार की अक्षुण्ण परम्परा चालू रही है। उसने यहाँ की हवा में एकता की भावना उत्पन्न की है ! पाकिस्तान की घटना ने लोगों के दिल तोड़ दिये, फिर भी जिन विचारों की बुनियाद यहाँ पड़ी है, वह कहाँ जा सकती है ? हम उन्हीं विचारों का सम्बल पाकर आज भी गाते हैं : **'ना कोई बैरी, नाहीं बिगाना, सकल संगी हमको बनि आई।'** यहाँ लोग चाहे झगड़ते रहें, लेकिन सबके दिलों में एकता की ख्वाहिश है। गुरु नानक ने यही बात कही है। **'आई पंथी सकल समाजी।'** आओ, इस पन्थ में आ जाओ। हम सब एक ही समाज के हैं।

इन्सानियत पर यकीन करनेवाला जादू

टूटे हुए दिलों को जोड़ने की प्रक्रिया हिन्दुस्तान में बराबर जारी है। हमने भूदान, ग्रामदान भी इसीलिए चलाया है कि लोगों के टूटे दिल जुड़ जायँ। दिल टूटने के कई कारण होते हैं । धार्मिक झगड़ों से दिल टूटते हैं, भाषाई झगड़ों से दिल टूटते हैं और जमातों के झगड़ों से भी दिल टूटते हैं। आर्थिक

संकट आने से भी जुड़े दिलों का सदा के लिए बिलगाव हो जाता है। इसलिए इन सारे कारणों को मिटाने के लिए हम चाहते हैं कि आज के गाँव ग्राम-स्वराज्य में परिवर्तित हो जायँ। ग्राम-स्वराज्य दिल जोड़ने की एक तरकीब है।

दिल की बात दिल जानता है। मेरे मन में क्या है, इस बात का स्पर्श आपके दिलों को होता है। इसीलिए यहाँ के लोग आते हैं और मुझसे कहते हैं कि झगड़े मिटाने का काम करूँ। क्या मेरे पास कोई जादू है, जो झगड़े मिटा दूँ ? हाँ, एक जादू है और वह यही कि मेरा इन्सानियत पर यकीन है । मैंने जाहिर किया है कि इन्सान के लिए जो ताकतें मददगार हो सकती हैं, उनमें सबसे बड़ी ताकत है : विश्वास। यदि आप चाहते हैं कि सर्वत्र शान्ति हो, सुख हो, समृद्धि हो, कहीं कोई कष्ट न पाये, कभी किसीको परेशान न होना पड़े, तो वेदान्त, विज्ञान और विश्वास, इन तीनों को अपनाने की जरूरत है।

दूसरों पर विश्वास : महान् शस्त्र

आज भाई-भाई में अविश्वास है, मित्र-मित्र में अविश्वास है। विभिन्न पक्षों, दलों और गुटों में अविश्वास है। किन्तु हम कहना चाहते हैं कि अविश्वास अब इस जमाने की चीज नहीं है। आज मानव के हाथों में इतने भयानक शस्त्रास्त्र आ गये हैं कि यदि एक-दूसरे पर अविश्वास करते रहेंगे, तो मानव-समुदाय मिट जायगा। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में किस तरह अविश्वास चलता है ! अविश्वास से बात बनती नहीं, बिगड़ जाती है। अगर हमारा दारोमदार केवल लाठी पर होता, तो अविश्वास के परिणामस्वरूप कुछ सिर-फुड़ौवल होकर ही रह जाती। लेकिन आज हमारे हाथों में हाइड्रोजन बम है । इसलिए अब अविश्वास के कारण सर्वनाश हुए बिना नहीं रहेगा।

इसलिए जैसे हम मित्रों पर विश्वास करते हैं, वैसे ही प्रतिपक्षी पर भी विश्वास करना सीखें। विश्वास रखने से हम कुछ खोयेंगे नहीं । खोयेगा वही, जो विश्वासघात करेगा। बाबा के पास यही जादू है कि वह सब पर विश्वास रखता है। आज की सभा आरम्भ करते समय कुछ शोरगुल हो रहा था। तब मैंने कहा कि अभी मैं धीरे-धीरे बोलूँगा। लेकिन जैसे ही बोलना शुरू किया, शोर बन्द ! अगर धीरे बोलने से काम न चलता, तो मैं मौन रहता। जैसे हिंसा में शस्त्र तीव्र से तीव्रतम हो जाते हैं, वैसे ही अहिंसा में सौम्य से सौम्यतम होते हैं। सर्वोदय की पद्धति में दूसरों पर विश्वास रखना ही बहुत बड़ा शस्त्र है।

विश्वास पर विश्वास करें

विश्वास इस संसार का सबसे अद्भुत जादू है । विश्वास पर ही यह सारा संसार खड़ा है। यदि विश्वास की शक्ति न रहे तो मानव-जाति एक-दूसरे से लड़-लड़कर समाप्त हो जायगी। एक चोर को भी अपने साथी चोर पर विश्वास करना पड़ता है। यदि हम इस विश्वास पर विश्वास करके उसकी शक्ति को पहचान सकें और तदनुसार बरत सकें, तो दुनिया के झगड़े मिटने में देर न लगेगी। आज की दुनिया के झगड़ों का सबसे बड़ा कारण अविश्वास है। हमें यही अविश्वास मिटाना है।

मेरे पास भिन्न-भिन्न विचारों के लोग आते हैं। वे जो कुछ कहते हैं, मैं उन पर विश्वास रखता हूँ । क्या वे सारे मुझे ठगनेवाले हैं ? नहीं, वे मुझे ठग नहीं सकते। जो सामनेवाले पर विश्वास रखता है, वह उसके हृदय में प्रवेश पाता है। फिर तो सामनेवाले के लिए भी यह लाजिमी हो जाता है कि वह ठीक-ठीक बातें बता दे। मैं किसी पर विश्वास रखता हूँ, तो उसके लिए भी मेरे पर विश्वास करना लाजिमी हो जाता है।

विश्वास से असज्जन भी सज्जन बनते हैं

यहाँ मैंने चन्द व्यक्तियों का सर्वोदय-मण्डल बना लिया है। वे व्यक्ति दुनिया में सर्वश्रेष्ठ हैं, ऐसी बात नहीं। उनमें दोष हो सकते हैं। लेकिन मैंने विश्वास से यह मण्डल बनाया है। आप भी उन लोगों पर विश्वास रखिये। अगर मैं सर्वोदय-मण्डल में परखकर आदमियों को सम्मिलित करता, तो आप भी उन्हें परखते। लेकिन मैंने उन पर विश्वास रखा है। आप भी उन पर विश्वास रखिये। आपके विश्वास के बावजूद अगर वे निकम्मे साबित हुए, तो बाबा डूबेगा, आप डूबेंगे और वे भी डूबेंगे । डूबना है, तो साथ डूबेंगे और तैरना है, तो साथ ही तैरेंगे। इसीमें आनन्द है। आप विश्वास रखेंगे, तो वे निश्चय ही डूबने जैसा काम नहीं करेंगे। विश्वास से असज्जन सज्जन बन जाते हैं।

हम एक पत्थर लेते हैं और मन्त्र बोलकर उसे भगवान् बना देते हैं। भगवान् ने हमें बनाया, पर हम भगवान् से अभिषिक्त कर पत्थर को ही भगवान् बना देते हैं। इसी तरह हमने दस पत्थर इकट्ठे किये हैं। बच्चा माँ पर विश्वास रखता है, इसलिए माँ बच्चे का खून नहीं कर सकती। मैंने इन लोगों पर विश्वास रखा है, इसलिए ये भी गलत काम नहीं कर सकते। अगर कभी इनसे कोई गलत काम हो जाय, तो ये

ही फिर से जाहिर करेंगे कि "हमने अमुक गलती की है, आप हमें क्षमा कीजिये ।" जब तक जाहिर नहीं करते, तब तक यह मानना चाहिए कि ये ठीक काम करते हैं।

विश्वास इस जमाने की शक्ति है। लोग मेरे शब्दों पर विश्वास रखते हैं। नहीं तो उनके पास क्या सबूत है कि मैं झूठ नहीं बोलता। किन्तु लोगों का मुझ पर विश्वास है कि मैं झूठ नहीं बोलता और मैं भी उन पर विश्वास रखता हूँ। विश्वास ही मेरा जादू है। इसकी शक्ति महान् है। [बलाचौरा, पंजाब; ७-५-'५९]

इसके आगे हमारे लिए किसी प्रकार संकुचित बनना या बने रहना सुखकर नहीं होगा। आज विज्ञान की शक्ति मदद में आ गयी है और आत्मज्ञान की शक्ति तो अपने देश में पहले से ही थी। आत्मज्ञान हमें व्यापकता तो सिखात ही था, किन्तु अब विज्ञान उसकी भौतिक आवश्यकता भी बताता है।

विश्वास-शक्ति का महत्त्व

विज्ञान-युग में राजनैतिक, सामाजिक योजनाओं और समाज-शास्त्र में 'विश्वास-शक्ति' की बहुत जरूरत है। हममें जितनी विश्वास-शक्ति होगी, उतने ही हम इस युग के अनुरूप बनेंगे। किन्तु इन दिनों बहुत ही अविश्वास दीखता है; खासकर राजनैतिक, धार्मिक और पान्थिक क्षेत्र में। यह पुराना चला आ रहा है, फिर भी टिकने वाला नहीं है। अगर हम टिकाना चाहें, तो भी न टिकेगा। राजनीति में अविश्वास को एक बल माना जाता है। उसे 'सावधानता' का लक्षण माना जाता है। लेकिन मैं मानता हूँ कि जिस क्षण मन में यत्किंचित् भी अविश्वास पैदा हो, वह क्षण हमारे लिए असावधानता का है। पूर्ण विश्वास के बिना राजनीति सुधर नहीं सकती। राष्ट्रों में झगड़े बढ़ेंगे, पान्थिक झगड़े बढ़ेंगे और विज्ञान-युग में उसका परिणाम बहुत खतरनाक होगा।

इसलिए वेदान्त और विज्ञान के साथ मैंने विश्वास को भी जोड़ दिया है। मैं आजकल इन्हीं तीनों तत्त्वों की उपासना करता हूँ। मैंने संस्कृत में एक श्लोक बनाया है, जो इन दिनों मेरे जप का मन्त्र बन गया है। वह इस प्रकार है—

वेदान्तो विज्ञानं विश्वासश्चेति शक्तयस्तिस्त्र:।

यासां स्थैर्ये नित्यं शान्तिसमृद्धी भविष्यतो जगति।।

यानी वेदान्त, विज्ञान और विश्वास ये तीन शक्तियाँ हैं। इन तीनों के स्थैर्य से दुनिया में शान्ति और समृद्धि होगी। आज दुनिया को शान्ति और समृद्धि की जरूरत है। वह वेदान्त, विज्ञान और विश्वास से ही हो सकेगी।

वेदान्त और विज्ञान का अर्थ

'वेदान्त' यानी वेद का अन्त, वेद का खात्मा। वेद यानी सब प्रकार के काल्पनिक धर्म। दुनिया में जितने धर्म हैं, उन सबका अन्त ही वेदान्त है। इसलिए उसमें इस्लामान्त, जैनान्त, बौद्धान्त, सिखान्त, क्रिस्तान्त,—सबका अन्त आ जाता है। सत्य की खोज, सत्य की पहचान और सत्य को मानना ही वेदान्त है। 'विज्ञान' यानी सृष्टि-तत्त्व की खोज। अगर हमारा शारीरिक जीवन उसके अनुकूल बने, तो सम्पूर्ण स्वास्थ्य की उपलब्धि होगी। जब तक यह नहीं होता, तब तक सृष्टि-विज्ञान-तत्त्व का चिन्तन कर उसके अनुसार हम अपना जीवन नहीं बना सकेंगे। इसलिए विज्ञान और परस्पर विश्वास होना चाहिए। [सर्वोदयनगर, अजमेर, राजस्थान; २८-२-'५९]

६. समन्वय का साधन : साहित्य

दुनिया को बनानेवाली ताकतें

मुझसे पूछा जाता है कि परमेश्वर के अलावा इस दुनिया को बनानेवाले और कौन-कौन हैं ? कोई समझते हैं कि राजनैतिक पुरुषों ने दुनिया बनायी। बड़े-बड़े इतिहास लिखे जाते हैं कि बाबर आया और उसने फलाँ-फलाँ काम किया। क्लाइव आया, उसने यह किया, वह किया। इतिहास के नाम से ये कहानियाँ चल पड़ती हैं। स्कूलों में बच्चों से रटायी जाती हैं। लेकिन आज समाज-जीवन में बाबर का कोई पता, क्लाइव का कोई हिसाब है ? ये दुनिया के बनानेवाले नहीं हो सकते | दुनिया को बनानेवाली तो तीन ताकतें हैं : विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य !

विज्ञान की शक्ति

वैज्ञानिक दुनिया के जीवन को रूप देता है। आज मेरे सामने यह लाउडस्पीकर खड़ा है, इसलिए शान्ति से सब सुन रहे हैं। अगर यह न होता, तो मेरी आवाज इतने लोगों तक नहीं पहुँच पाती। मुझे दर्शन और प्रणाम कर लोगों को चला जाना पड़ता या मुझे ही छोटी जमात में बोलना पड़ता। आज तो इतनी ही जमात शान्ति से सुन रही है। लेकिन इससे दसगुनी होती, तो भी सुन सकती। इसकी कल्पना पहले के लोगों को हो ही नहीं सकती थी।

विज्ञान से न केवल जमीन में स्थूल परिवर्तन होता है, बल्कि मानसिक परिवर्तन भी होता है। प्रिंटिंग प्रेस (छापाखाने) के कारण विज्ञान का कितनी आसानी से प्रचार हो सकता है, इसका कोई खयाल हमारे पूर्वजों को नहीं रहा होगा। उससे गलत बातों का भी प्रचार हो सकता है; यह अलग बात है। लेकिन जीवन को बदलनेवाली चीजें विज्ञान से पैदा होती हैं और वैज्ञानिकों ने जीवन को आकार दिया है, इसमें कोई शक नहीं। अग्नि की खोज के बाद सारे ऋषिगण भक्तिभाव से अग्नि के गीत गाने लगे। ये गीत वेदों में आते हैं। अब शायद अणुशक्ति के गीत गानेवाले ऋषिगण पैदा होंगे। आज तो वह संहार करने के लिए आयी है, संहारक के रूप में ही हमारे सामने खड़ी है। लेकिन उसका शिवरूप भी है, केवल रुद्ररूप ही नहीं। जब वह शिवरूप में प्रकट होगी, तब दुनिया का जीवन ही बदल देगी !

आत्मज्ञान की सामर्थ्य

दूसरी ताकत जो जीवन को आकार देती है, वह है, आत्मज्ञान। आत्मज्ञानी दुनिया में जहाँ-जहाँ पैदा हुए, उनकी बदौलत पूरा-का-पूरा जीवन बदल गया। ईसामसीह आये, गौतम बुद्ध आये, लाओत्से आये, मुहम्मद पैगम्बर आये, नामदेव आये, तुलसीदास आये, माणिक्य वाचकर आये, जगह-जगह ऐसे महात्मा आये। ऐसे एक-एक शख्स के आगमन से लोगों के जीवन का स्वरूप बदल गया। लोगों के जीवन का स्वरूप बदलनेवाली यह दूसरी ताकत है।

साहित्य की शक्ति

दुनिया को बनानेवाली तीसरी ताकत है, साहित्य।

साहित्य से मुझे हमेशा बहुत उत्साह मिलता है। साहित्य-देवता के प्रति मेरे मन में बड़ी श्रद्धा है। एक पुरानी बात याद आ रही है। बचपन में करीब १० साल तक मेरा जीवन एक छोटे-से देहात में ही बीता। बाद के १० साल बड़ौदा जैसे बड़े शहर में बीते। जब मैं कोंकण के देहात में था, तब पिताजी कुछ अध्ययन और काम के लिए बड़ौदा रहते थे। दीवाली के दिनों में अक्सर घर आया करते थे। एक बार माँ ने कहा : "आज तेरे पिताजी आनेवाले हैं, तेरे लिए मेवा-मिठाई लायेंगे।'' पिताजी आये । फौरन् मैं उनके पास पहुँचा और उन्होंने अपना मेवा मेरे हाथ में थमा दिया। मेवे को हम कुछ गोल-गोल लड्डू ही समझते थे। लेकिन यह मेवे का पैकेट गोल न होकर चिपटा-सा था। मुझे लगा कि कोई खास तरह की मिठाई होगी। खोलकर देखा, तो दो किताबें थीं। उन्हें लेकर मैं माँ के पास पहुँचा और उसके सामने धर दिया। माँ बोली : "बेटा ! तेरे पिताजी ने तुझे आज जो मिठाई दी है, उससे बढ़कर कोई मिठाई हो ही नहीं सकती ।" वे किताबें रामायण और भागवत की कहानियों की थीं, यह मुझे याद है। आज तक वे किताबें मैंने कई बार पढ़ीं। माँ का यह वाक्य मैं कभी नहीं भूला कि "इससे बढ़कर कोई मिठाई हो ही नहीं सकती।" इस वाक्य ने मुझे इतना पकड़ रखा है कि आज भी कोई मिठाई मुझे इतनी मीठी मालूम नहीं होती, जितनी कोई सुन्दर विचार की पुस्तक !

साहित्य : कठोरतम साधना की सिद्धि

वैसे तो भगवान् की अनन्त शक्तियाँ हैं, पर साहित्य में उन शक्तियों की केवल एक ही कला प्रकट हुई है। भगवान् की शक्ति की यह कला कवियों और साहित्यिकों को प्रेरित करती है। कवि और साहित्यिक ही उस शक्ति को जानते हैं, दूसरों को उसका दर्शन नहीं हो पाता। मुहम्मद पैगम्बर के बारे में कहा गया है कि वे समाधि में लीन होते, तो पसीना-पसीना हो जीते थे। उनके नजदीक के लोग एकदम घबरा उठते कि यह कितना घोर तप चल रहा है ! कितनी तकलीफ हो रही होगी ! लेकिन वह चीज 'वही' थी, जिसे अरबी में 'वह ई' कहते हैं। वह ई यानी पुस्तक या किताब नहीं । 'वह ई' उस चीज को कहते हैं, जो परमेश्वर का सन्देश मनुष्य के पास पहुँचाती है। जब वह परमेश्वर का सन्देश मनुष्य के हृदय पर सवार होता है, तब बहुत ही यन्त्रणा (टार्चर), तीव्र वेदना होती है, जिसकी उपमा प्रसूति-वेदना से दे सकते हैं। प्रसूति में बहनों को जो वेदना होती है, उससे यह वेदना बहुत ज्यादा है । यह तो मैं अपने अनुभव से ही कह सकता हूँ कि कुछ ऐसा महसूस होता है कि हम अपने को बिलकुल

खो रहे हैं। कोई चीज हम पर हावी हो रही है। ऐसी कोई चीज, जिसे हम टाल नहीं सकते, टालना चाहते हैं । लगता है कि टले तो अच्छा है। लेकिन वह टल नहीं पाती, टाली नहीं जा सकती। ऐसी वेदना के अन्त में जो दर्शन होता है, वही लोगों को चखने को मिलता है। वह वेदना लोगों को मालूम नहीं होती, उसे तो कवि और साहित्यिक ही जानते हैं।

कवि की व्याख्या

मेरे अर्थ में 'कवि' दो-चार कड़ियाँ, तुकबन्दियाँ जोड़ देनेवाला नहीं है। कवि क्रान्तदर्शी होता है। जिसे उस पार का दर्शन होता है, वही कवि है। इस पार देखनेवाली तो ये दो आँखें है। इनका हम पर बड़ा उपकार है ही। ये सजी-सजायी सारी दुनिया हमारे सामने पेश करती है, दुनिया की रौनक दिखाती हैं। सृष्टि का सौन्दर्य हम इन्हीं दो आँखों से ग्रहण करते हैं। लेकिन ये गुनहगार भी हैं। इन दो आँखों से परे एक तीसरी चीज भी है, जो इनकी बदौलत छिप जाती है। इस खूबसूरत दुनिया से और भी निहायत खूबसूरत एक दुनिया है, जिसे ये दो आँखें छिपा रखती हैं। इन आँखों की वहाँ पहुँच नहीं है। इनके कारण मानव उस दुनिया की ओर आकृष्ट नहीं होता। लेकिन जब तीसरी आँख खुल जाती है, तो इस दुनिया का दर्शन होता है। दुनिया के सर्वसाधारण व्यवहारों के पीछे, उनके अन्दर और उनकी तह में जो ताकतें काम करती हैं, उनका दर्शन होता है। उसमें से काव्य-स्फूर्ति होती है, साहित्य की स्फूर्ति होती है। इसीलिए मेरी साहित्यिकों पर बहुत श्रद्धा है।

वाल्मीकि आये। व्यास आये | दाँते आये। होमर आये। शेक्सपियर आये। रवीन्द्रनाथ आये | ऐसे लोग दुनिया में आये और दुनिया को ऐसी चीज दे गये, जो सदा के लिए जीवन को समृद्ध बना दे। दुनिया को उन्होंने ऐसी विचार-शक्ति दी, जिससे दुनिया का जीवन बदल गया। दुनिया को शान्ति की जरूरत हुई, तो शान्ति का विचार दिया। उत्साह की जरूरत हुई, उत्साह दिया। आशा की जरूरत हुई, आशा दी। जिस समय समाज को जिस चीज की जरूरत थी, वह चीज उन्होंने समाज को दी। दुनिया में जो बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हुईं, उनके पीछे ऐसे विचारकों के विचार ही थे। ऐसे साहित्यिकों का साहित्य था, जिन्होंने पारदर्शन किया था।

वाणी : विज्ञान-आत्मज्ञान के बीच का पुल

इन तीन ताकतों ने आज तक दुनिया बनायी। इसके आगे भी जीवन के ढाँचे को स्वतन्त्र रूप देनेवाली ये ही तीन ताकतें हो सकती हैं : विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य या वाक्शक्ति जिसे 'वाणी' भी कहते हैं । विज्ञान से जीवन का स्थूल रूप बदलता है और वह मनुष्य के मन पर असर करनेवाली परिस्थितियाँ पैदा कर देता है। लेकिन वह सीधे मन पर असर नहीं करता। वाणी विज्ञान से आगे जाकर हृदय पर ही सीधा प्रहार करती है। वह हृदय तक पहुँच जाती है। फिर आत्मज्ञान अन्दर प्रकाश डालता है। विज्ञान बाहर से प्रकाश डालता है, तो आत्मज्ञान भीतर से प्रकाश करता है। इन दोनों के बीच वाणी पुल का काम करती है। वह दोनों किनारों का संयोग कराती और दोनों तरफ रोशनी डालती है। तुलसीदासजी कहते हैं :

"राम-नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरहूँ जो चाहसि उजियार॥''

"अगर तू अन्दर और बाहर दोनों ओर उजाला चाहता है, प्रकाश चाहता है, तो यह राम-नामरूपी मणिदीप जिह्वारूपी देहरी-द्वार पर रख ले। इस द्वार पर दीया जलाते ही बाहर और भीतर दोनों तरफ प्रकाश फैल जाता है।" इतना अधिक उपकार वाणी करती है। मनुष्य को भगवान् की यह अप्रतिम देन है।

वाणी का सदुपयोग हो

वाणी की यह देन मनुष्य की बड़ी भारी शक्ति है। इस शक्ति का जहाँ दुरुपयोग होता है, वहाँ समाज गिरता है और जहाँ उसका सदुपयोग होता है, वहाँ समाज आगे बढ़ता है। ऋग्वेद में कहा गया है :

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।''

यानी हम अनाज छानते हैं, तो उसमें से ठोस बीज ले लेते हैं और ऊपर का छिलका, कचरा फेंक देते हैं। वैसे ही जिस समाज में वाणी की छानबीन होती है, ज्ञानी पुरुष मननपूर्वक वाणी की छानबीन

करते हैं और उत्तम, पावन, पवित्र, शुद्ध, निर्मल, स्वच्छ, खालिस शब्द ढूँढ़ निकालते हैं, उस शब्द का प्रयोग करते हैं, उस समाज में लक्ष्मी रहती है।

बहुतों का खयाल है कि सरस्वती और लक्ष्मी का विरोध है, लेकिन ऋग्वेद ने इससे बिलकुल उलटी बात कही है। यह कहना कितने अज्ञान की बात है कि लक्ष्मी और सरस्वती का वैर है। वाणी तो संयोजन-शक्ति है। वह तो अन्दर की दुनिया और बाहर की दुनिया को, आत्मज्ञान और विज्ञान को जोड़नेवाली कड़ी है। दुनिया में जितनी शक्तियाँ मौजूद हैं, उन सब शक्तियों को जोड़नेवाली अगर कोई कड़ी है, तो वह वाणी ही है। फिर उसका किसीके साथ वैर कैसे हो सकता है ? वाणी सूक्ष्म-शक्ति है। इसलिए उसके भीतर दूसरी शक्तियाँ छिपी रहती हैं । मेरा तो वाणी पर बहुत भरोसा है। निरन्तर बोलता ही रहता हूँ, सुनता भी जाता हूँ । इसीमें वाणी की महिमा है। श्रवण और कीर्तन दोनों मिलकर वाणी बनती है। [पण्ढरपुर, महाराष्ट्र; ३०-५-'५७]

परिशिष्ट : १

अध्यात्म के स्रोत गतिशील हों

[पटना में दिसम्बर '६२ में हुए आत्मज्ञान और विज्ञान-सम्बन्धी परिसंवाद में स्वीकृत निवेदन]

अर्वाचीन दशकों ने वैज्ञानिक ज्ञान में अद्भुत उन्नति और तकनीकी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, जो मानव-समाज के लिए अतिशय लाभदायी सिद्ध हुई हैं : जैसे—शीघ्रगामी यातायात के साधन, अच्छा स्वास्थ्य, भौतिक आवश्यकताओं की आसानी से पूर्ति, जीवन के उच्च ध्येयों की प्राप्ति के लिए अधिक अवकाश, आदि। साथ ही साथ विज्ञान और तकनीकी ज्ञान से उत्पन्न शक्ति के सदुपयोग या दुरुपयोग की समस्या ने भयंकर रूप ले लिया है। इतिहास में पहली बार मानवता के समक्ष अणु-युद्ध द्वारा उसके पूर्ण विनाश की सम्भावना सामने आयी है। मनुष्य की इस अवस्था का कारण उसके आन्तरिक विकास की अपेक्षा है, जिससे वह अपने मनोवेगों का दास बन गया है।

वर्तमान काल में यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि विज्ञान और आत्मज्ञान का समन्वय ही इस संकट से मुक्त होने का साधन है। यह परिसंवाद अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ और विश्व-संघ के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित किया गया था, जिसका उद्देश्य इस समन्वय के व्यावहारिक पहलुओं की जाँच-पड़ताल करने और वर्तमान चुनौती का सामना करने के हेतु विज्ञान तथा आत्मज्ञान के स्रोतों को एकत्रित लाने तथा गतिशील बनाने का शोध करना था। यद्यपि साधारणतया विज्ञान बाह्य जगत् की जानकारी से सम्बद्ध है और आत्मज्ञान मानव की अन्तरात्मा के ज्ञान से सम्बद्ध है, परन्तु इस परिसंवाद का निश्चित मत है कि ज्ञान अखण्ड है और एक है। विज्ञान को उसके मौलिक अर्थ 'ज्ञान' के रूप में समझना चाहिए—जिसके अन्तर्गत बाह्य जगत् का ज्ञान और मानव-स्वभाव का ज्ञान दोनों का समावेश है। सत्य की परिधि से एक ओर तो इन्द्रियजन्य जगत् है, जो अब तक वैज्ञानिकों का मुख्य विषय रहा है और दूसरी ओर आत्मा का क्षेत्र है। इस परिसंवाद का अभिमत है कि इस अर्थ में विज्ञान की अडिग गवेषणा और वैज्ञानिक वृत्ति या वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास ही, जिसमें मानव-प्रकृति का अध्ययन भी शामिल है, वर्तमान समय में मानवता पर छाये हुए महान् व्याधि के लिए संजीवनी का काम दे सकता है।

प्रयोग और निरीक्षण की, व्यवस्थापन और अनुमान आदि की वैज्ञानिक पद्धतियाँ आज यद्यपि बाह्य जगत् के अनुसन्धान में अत्यन्त सफल सिद्ध हुई हैं, फिर भी उन्हें मानव-प्रकृति के अनुसन्धान के काम में अभी पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त नहीं किया गया है। मनुष्य के मन और चेतना के सम्बन्ध में जो कुछ वैज्ञानिक खोज आज तक हुई है, वह प्राचीन सन्तों और योगियों द्वारा जीवन की एकता और परस्परानुबन्धिता के सम्बन्ध में अपनी अन्तर्दृष्टि से कही हुई बातों का समर्थन करती है। यह परिसंवाद विश्वास करता है कि इन अनुसन्धानों का बड़े पैमाने पर प्रयोग हो। इस बात की पूर्ण आशा है कि आज स्वयं मनुष्य में निहित तत्त्वों की जो अधिकाधिक जानकारी प्राप्त हुई है, उसके द्वारा मानव अपने में प्रेम और प्रज्ञा भी विकसित करने में समर्थ होगा, जिसके भय और असुरक्षितता को, जो कि बाह्य और अन्तर्जगत् की वास्तविक शान्ति के मार्ग में बाधक है, मिटाया जा सके।

यह परिसंवाद विश्वभर के सभी वैयक्तिक तथा संस्थागत प्रयत्नों का स्वागत करता है, जो वर्तमान भयानक परिस्थिति का मुकाबला करने और भविष्य का मार्ग प्रशस्त तथा उज्ज्वल बनाने की दिशा में मनुष्य के आध्यात्मिक शक्ति-स्त्रोतों को चालना देने में उद्यत हैं। परिसंवाद उन सबको इस बात में अपने साथ सम्मिलित होने का आमंत्रण देता है कि मनुष्य को अपनी प्रकृति को अधिकाधिक स्वयं समझने और विशेषतः दूसरे लोगों और राष्ट्रों की भावनाओं तथा विचारों को अधिक सहानुभूति के साथ समझने योग्य बनाया जा सके। इन लक्ष्यों को सिद्ध करने की एक पद्धति यह हो सकती है कि इस क्षेत्र में हो रहे—न केवल वैयक्तिक, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी—सृजनात्मक कार्यों का व्यवस्थित अध्ययन और संकलन किया जाय । यह परिसंवाद यह भी सिफारिश करता है कि इस विषय के वैज्ञानिक अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए नयी संस्था स्थापित करने और उन्हें अवलम्ब देने की दिशा में आवश्यक सभी कदम शीघ्र ही उठाये जायँ। अन्ततः परिसंवाद अपनी आशा व्यक्त करता है कि अखिल भारत सर्व सेवा संघ और विश्व-संघ दोनों मिलकर इस विषय में व्यावहारिक कार्यक्रमों पर विचार करने के लिए विभिन्न संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करके इसी प्रकार के परिसंवादों का समय-समय पर आयोजन करें।

परिशिष्ट : २

अध्यात्म की वैज्ञानिक खोज हो

[आध्यात्मिक और नैतिक स्रोतों को चालना देने के विषय पर सर्व सेवा संघ की प्रबंध-समिति की तारीख ८ से १० अगस्त '६३ की सेवाग्राम-बैठक में स्वीकृत निवेदन]

"यह हमारे लिए महत्त्व का विषय है कि विनोबाजी ने कहा कि 'आत्मज्ञान और विज्ञान के ऐक्य के लिए सर्व सेवा संघ और विश्व-संघ का पारस्परिक सहयोग मेरे ख्याल से अच्छा है' और स्वर्गीय डॉ राजेन्द्रप्रसाद ने आशा व्यक्त की कि 'आत्मज्ञान और विज्ञान को एक-दूसरे से मिलने की दिशा में ये दोनों संस्थाएँ अपना प्रयत्न सतत जारी रखेंगी, ताकि मानव को सर्वनाश से बचाया जा सके।'

"हम स्वीकार करते हैं कि यह कार्य केवल बौद्धिक चर्चा का नहीं है, बल्कि एक व्यावहारिक और गतिशील आन्दोलन है। इसलिए सर्व सेवा संघ और विश्व-संघ के संयुक्त तत्त्वावधान में पटना में आयोजित परिसंवाद के अन्त में सर्वसम्मति से स्वीकृत इस निवेदन से हम सहमत हैं कि 'यह परिसंवाद विश्वभर के सभी वैयक्तिक तथा संस्थागत प्रयत्नों का स्वागत करता है, जो वर्तमान भयानक परिस्थिति का मुकाबला करने और भविष्य का मार्ग प्रशस्त तथा उज्ज्वल बनाने की दिशा में मनुष्य के आध्यात्मिक शक्ति-स्रोतों को चालना देने में उद्यत हैं। परिसंवाद उन सबको इस बात में अपने साथ सम्मिलित होने का आमन्त्रण देता है कि मनुष्य को अपनी प्रकृति को अधिकाधिक स्वयं समझने और विशेषत: दूसरे लोगों और राष्ट्रों की भावनाओं तथा विचारों को अधिक सहानुभूति के साथ समझने योग्य बनाया जा सके। ···अन्तत: परिसंवाद अपनी आशा व्यक्त करता है कि अखिल भारत सर्व सेवा संघ और विश्व-संघ दोनों मिलकर इस विषय में व्यावहारिक कार्यक्रमों पर विचार करने के लिए विभिन्न संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करके इसी प्रकार के परिसंवादों का समय-समय पर आयोजन करें।'

"इसलिए, विश्व-संघ के इस सुझाव का कि भारत की तथा विश्व की आध्यात्मिक, नैतिक और मानवीय शक्तियों को चालना देने का सबसे पहले गैर-सरकारी स्तरों में प्रयत्न किया जाय, एक व्यावहारिक कार्यक्रम के तौर पर हम स्वागत करते हैं। मनुष्य में उसके आन्तरिक विकास की जो असीम

क्षमताएँ हैं, जो कि उसके सामाजिक प्रगति की पूर्व शर्त है, वे ही शान्ति और समृद्धि के लिए एकमात्र विश्वसनीय आधार है।

"हम अपने कार्यकर्ताओं और साथी नागरिकों को उनकी अपनी आध्यात्मिक और नैतिक जागृति तथा वृद्धि के लिए व्यक्तिगत रूप से इन सुझावों पर अमल करने की सिफारिश करते हैं और शान्ति-समृद्धि के वैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्रोतों को चालना देने के महान् और समान लक्ष्य की सिद्धि के लिए विभिन्न संस्थाओं और आन्दोलनों से सक्रिय सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। और हम यह मानकर चलते हैं कि इस आन्दोलन की सभी अवस्थाओं में इसमें भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति तथा संस्था की स्वतन्त्रता और स्वायत्तता के सिद्धान्त का पूरा समादर किया जायगा।

हम निम्न सुझाव प्रस्तुत करते हैं :

१. व्यक्ति के आन्तरिक विकास पर अनिवार्य रूप से सतत बल दिया जाय, ताकि वह समाज की शान्ति-समृद्धि की शक्ति बन सके।

२. इस आन्दोलन का स्वरूप चूँकि पक्षहीन और पन्थरहित बनाये रखना है और उसके उत्कृष्ट ध्येय के प्रति उसकी प्रामाणिकता कायम रखना आवश्यक है, इसलिए किसी भी पक्ष को इस आन्दोलन का उपयोग अपने पक्षीय या निजी हेतु सिद्ध करने में करने नहीं दिया जाय।

३. प्रत्येक समस्या के प्रति इस आन्दोलन को पक्षातीत और विधायक रुख रखना होगा।

४. सभी लोगों में शुभ वृत्ति और एक-दूसरे को समझने की प्रवृत्ति निर्माण की जाय।

"विश्व-शान्ति की समस्या की आज की त्वरा को तथा भारत के सामने आज तीव्र रूप से उपस्थित चुनौती को ध्यान में रखते हुए हम अपने कार्यकर्ताओं और साथियों से अनुरोध करते हैं कि वे आध्यात्मिक और नैतिक स्त्रोतों को चालना देने के इस आन्दोलन में स्वेच्छा से और व्यक्तिगत रूप से सक्रिय भाग लें। सर्व सेवा संघ के सामने भी हमारा सुझाव है कि वह इस विषय पर रायपुर के आगामी सर्वोदय-सम्मेलन में पर्याप्त विचार करे।

"सर्व सेवा संघ की सभी इकाइयों से तथा लोगों से हमारा निवेदन है कि वे अपनी ओर से इस दिशा में पूरी लगन से प्रयत्न करें। सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष से हमारा अनुरोध है कि इस विषय पर विचार करने के लिए अगले महीनों में एक समिति का गठन करें।"

* * *

इसके अनुसार जो समिति गठित की गयी है, वह निम्न प्रकार है :

१. श्री जयप्रकाश नारायण (पटना)

२. श्री उ. न. ढेबर (बम्बई)

३. डॉ. जे. एच. स्मिथ (पांडीचेरी)

४. श्री पी. वी. आठवले शास्त्री (बम्बई)

५. श्री कृष्णकान्त (दिल्ली)

६. श्री ओमप्रकाश त्रिखा (पट्टीकल्याणा)

७. डॉ. टी. आर. अनन्तराम (वाराणसी)

८. श्री कृष्णराज मेहता (संयोजक) (वाराणसी)

परिशिष्ट : ३

खोज की दिशा

[आत्मज्ञान और विज्ञान-सम्बन्धी रायपुर-परिषद्

(२६-१२-'६३) की समाप्ति पर विनोबाजी का वक्तव्य।]

विज्ञान बाहर से काम करता है और आत्मज्ञान अन्दर से, और दोनों का सहयोग मानवों में होता है। दोनों ह्यूमन हैं, क्योंकि मनुष्य ने दोनों माने हैं। इसलिए अभी जयप्रकाशजी ने बताया कि कोई साधन मिलना चाहिए, जिसका वर्तमान ग्रामदान-आन्दोलन के साथ मेल बैठे। लोगों से बिल्कुल अलग रहकर चिन्तन नहीं हो सकेगा। काका ने कहा कि योग की साधना व्यक्तिगत थी, क्योंकि वह जनता से अलग रहकर की जाती थी। यानी जीवन से अलग रहकर की जाती थी। इसलिए मैं सोचता हूँ कि सन् १९६५ का जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वर्ष माना गया है, उसके बीच में एक साल है, तो इस देश में हम ऐसा वातावरण तैयार करें कि जनता (मासेज) और वर्ग (क्लासेज) का भेद ही खतम हो जाय। मैं आशा नहीं करता कि इतनी जल्दी वह भेद मिट जायगा, लेकिन वह सहन नहीं होना चाहिए। आज वह सहन होता है। इतनी तीव्रता से मैं ग्रामदान के बारे में सोचता हूँ। हमने जो आश्रम बनाये हैं, उनमें किसी एक स्थान को चुना जाय या और भी कोई स्थान हो, जो अनुकूल पड़ता हो, उसको चुना जाय, जहाँ ग्रामदान के काम का चिन्तन चलता हो, अध्ययन चलता हो और मूल्यांकन होता हो; वह गलत दिशा में न जाय, इसके बारे में वहाँ से मार्ग-दर्शन मिले; इतना अगर हम भारत में कर सके, तो मेरा ख्याल है कि अगले साल के लिए और आगे भी दो-चार साल के लिए यानी गांधीजी की शत-संवत्सरी तक इतना काम पर्याप्त होगा। दुनिया में इस प्रकार सोचनेवाले लोग और भी हैं। उनके साथ सम्पर्क हो, तो ऐसे स्थान में विचार का आदान-प्रदान होता रहेगा। और जिस प्रकार यहाँ ग्रामदान-आन्दोलन चल रहा है, उस प्रकार का आन्दोलन भी थोड़ा-बहुत दुनिया में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में चलता रहे, उनके साथ भी अनुबन्ध रहे ।

अभी जो मैत्री-यात्रा चली है, उसकी एक कसौटी-सी परिषद् होनेवाली है। ऐसी अपेक्षा है, उसमें भी सोचा जाय कि मैत्री-यात्रा के अनुभवों के आधार पर हम आगे क्या कर सकते हैं। मैं तो वहाँ नहीं आ सकूँगा, फिर भी उस दिशा में सोचने में मदद कर सकता हूँ।

आध्यात्मिकता की कसौटी

और एक बात समझने की है। जिसको आप सायकिक रिसर्च (चित्त-संशोधन) कहते हैं, उसको मैं आध्यात्मिक नहीं मानता हूँ। वह साइन्स ही है। माइण्ड (चित्त) भी मैटर (द्रव्य) के अन्तर्गत है और उन दोनों से हम अलग हैं। साइकिक रिसर्च (चैतसिक खोज) किया जाय, लेकिन वह विज्ञान और आत्मज्ञान का जोड़ नहीं होगा। वह विज्ञान के अन्तर्गत ही है। अध्यात्म में भी जिसको आजकल स्पिरिटिज्म (प्रेतविद्या) कहते हैं, उसका समावेश नहीं होना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि इसमें कुछ सार या तथ्य नहीं है। हो सकता है कि कोई सार हो, लेकिन स्पिरिच्युआलिटी (अध्यात्म) अलग बात है। इसकी एक पहचान है कि अध्यात्म का कभी दुरुपयोग नहीं हो सकता। जिस चीज का भला-बुरा (दोनों प्रकार का) उपयोग हो सकता हो, वह अध्यात्म नहीं है। वह भौतिक विश्व का एक हिस्सा है। साइकिक पावर (चैतसिक शक्ति) का दुरुपयोग भी हो सकता है। फिजिकल पावर (भौतिक शक्ति) का सदुपयोग, दुरुपयोग दोनों हो सकता है। जिसमें ये दोनों सम्भावनाएँ हैं, वह स्पिरिच्युआलिटी (अध्यात्म) नहीं है। यह मैंने स्पिरिच्युआलिटी (अध्यात्म) की डेफिनिशन (व्याख्या) बना ली है कि जिसका अच्छा ही उपयोग हो, वही स्पिरिच्युआलिटी (अध्यात्म) है। यह अपना विचार मैंने आपके सामने रख दिया।

* * * * *